ॐ

कठोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९२ से १९९९ तक १३,२५०
सं० २००२ पञ्चम संस्करण ३,०००
सं० २००८ षष्ठ संस्करण १०,०००
कुल २६,२५०

मूल्य ।।~) नौ आना

प्राक्कथन

कठोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदकी कठशाखाके अन्तर्गत है। इसमें यम और नचिकेताके संवादरूपमें ब्रह्मविद्याका बड़ा विशद वर्णन किया गया है। इसकी वर्णनशैली बड़ी ही सुबोध और सरल है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी इसके कई मन्त्रोंका कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः उल्लेख है। इसमे, अन्य उपनिषदोंकी भाँति जहाँ तत्त्वज्ञानका गम्भीर विवेचन है वहाँ नचिकेताका चरित्र पाठकोंके सामने एक अनुपम आदर्श भी उपस्थित करता है। जब वे देखते हैं कि पिताजी जीर्ण-शीर्ण गौएँ तो ब्राह्मणोंको दान कर रहे हैं और दूध देनेवाली पुष्ट गायें मेरे लिये रख छोड़ी हैं तो बाल्यावस्था होनेपर भी उनकी पितृभक्ति उन्हे चुप नहीं रहने देती और वे बालसुलभ चापल्य प्रदर्शित करते हुए वाजश्रवासे पूछ बैठते हैं—'तत कस्मै मां दास्यसि' (पिताजी ! आप मुझे किसको देंगे ?) उनका यह प्रश्न ठीक ही था; क्योंकि विश्वजित् यागमें सर्वस्व दान किया जाता है, और ऐसे सत्पुत्रका दान किये बिना वह पूर्ण नहीं हो सकता था। वस्तुतः सर्वस्वदान तो तभी हो सकता है जब कोई वस्तु 'अपनी' न रहे और यहाँ अपने पुत्रके मोहसे ही ब्राह्मणोंको निकम्मी और निरर्थक गौएँ दी जा रही थी. अतः इस मोहसे पिताका उद्धार करना उनके लिये उचित ही था।

इसी तरह कई बार पूछनेपर जब वाजश्रवाने खीझकर कहा कि मैं तुझे मृत्युको दूँगा, तो उन्होंने यह जानकर भी कि पिताजी क्रोधवश ऐसा कह गये हैं, उनके कथनकी उपेक्षा नहीं की। महाराज दशरथने वस्तुस्थितिको विना समझे ही कैकेयीको वचन दिये थे; किन्तु भगवान् रामने उनकी गम्भीरताका निर्णय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी। जिस समय द्रौपदीके स्वयंवरमें अर्जुनने मत्स्यवेध किया और पाण्डवलोग द्रौपदीको लेकर अपने निवास-स्थानपर आये उस समय माता कुन्तीने विना जाने-बूझे घरके भीतरसे ही कह दिया था कि 'सव भाई मिलकर भोगो'। माताकी यह उक्ति सर्वथा लोकविरुद्ध और भ्रान्तिजनित थी, परन्तु मातृभक्त पाण्डवोंको उसका अक्षरशः पालन ही अभीष्ट हुआ। ऐसा ही प्रसङ्ग नचिकेताके सामने उपस्थित हुआ और उन्होंने भी अपने पिताके वचनकी रक्षाके लिये उनके मोहजनित वात्सल्य और अपने ऐहिक जीवनको सत्यकी वेदीपर निछावर कर दिया।

हमारे वहुत-से भाइयोंको इस प्रकारके अनभिप्रेत और अनर्गल कथनकी मर्यादा रखनेके लिये इतना सरदर्द मोल लेना कोरी भूल और भोलापन ही जान पड़ेगा। किन्तु उन्हें इसका रहस्य समझनेके लिये कुछ गम्भीर विचारकी आवश्यकता है। योगदर्शनके साधन-पादमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच यमोंका नाम-निर्देश करनेके अनन्तर ही कहा है—'जातिदेशकाल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' (यो० सू० २। ३१) अर्थात् जाति, देश, काल और कर्तव्यानुरोधकी अपेक्षा न करते हुए इनका सर्वथा पालन करना महाव्रत है तथा जाति, देश और कालादिकी अपेक्षासे पालन करना अल्पव्रत कहलाता है। इनमें अल्पव्रतमें ही लोकाचार, सुविधा और हानि-लाभ आदिके विचारकी गुंजाइश है। उसे हम व्यावहारिक धर्म कह सकते हैं। वह किसी विशेष सिद्धिका कारण नहीं हो सकता; सिद्धियोंकी प्राप्ति तो महाव्रतसे ही होती है। योगदर्शनमें इससे आगे जो भिन्न-भिन्न यम-नियमादिकी प्रतिष्ठासे भिन्न-भिन्न सिद्धियोंकी प्राप्ति वतलायी है वह महाव्रतीको ही हो सकती है। इस प्रकारका महाव्रत, व्यवहारी लोगोंकी दृष्टिमें

भले ही व्यर्थ आग्रह और मानसिक सङ्कीर्णता जान पड़े तथापि वह परिणाममें सर्वदा मङ्गलमय ही होता है। भगवान् रामका वनवास, परशुरामजीका मातृवध, पूरुका यौवनदान तथा पाँच पाण्डवोंका एक ही द्रौपदीके साथ पाणिग्रहण करना—ये सब प्रसङ्ग इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। ऐसा ही नचिकेताके साथ भी हुआ। उनका यमलोक-गमन उन्हींके लिये नहीं उनके पिताके लिये और सारे संसारके लिये भी कल्याणकर ही हुआ।

यमलोकमें पहुँचनेपर भी जबतक यमराजसे उनकी भेंट नहीं हुई तबतक उन्होंने अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं किया। इससे भी उनकी प्रौढ सत्यनिष्ठाका पता लगता है। उनका शरीर यमराजको दान दिया जा चुका था, अतः अब उसपर यमराजका ही पूर्ण अधिकार था; उनका तो सबसे पहला कर्तव्य यही था कि वे उसे धर्मराजको सौंप दें। इसीसे वे भोजनाच्छादनादिकी चिन्ता छोड़कर यमराजके द्वारपर ही पड़े रहे। तीन दिन पश्चात् जब यमराज आये तो उन्होंने उन्हें एक-एक दिनके उपवासके लिये एक-एक वर दिया। इससे अतिथिसत्कारका महत्त्व प्रकट होता है। अतिथिकी उपेक्षा करनेसे कितनी हानि होती है—यह बात वहाँ (अ० १ व० १ मं० ७, ८ में) स्पष्टतया बतलायी गयी है।

इसपर नचिकेताने यमराजसे जो तीन वर माँगे हैं उनके क्रममें भी एक अद्भुत रहस्य है। उनका पहला वर था पितृपरितोष। वे पिताके सत्यकी रक्षाके लिये उनकी इच्छाके विरुद्ध यमलोकको चले आये थे। इससे उनके पिता स्वभावतः बहुत खिन्न थे। इसलिये उन्हें सबसे पहले यही आवश्यक जान पड़ा कि उन्हें शान्ति मिलनी चाहिये। यह नियम है कि यदि हमारे कारण किसी व्यक्तिको खेद हो तो, जबतक हम उसका खेद निवृत्त न कर देंगे, हमें भी शान्ति नहीं मिल सकती। यह नियम मनुष्यमात्रके लिये समान है; और यहाँ तो स्वयं उनके पूज्य पिताको ही खेद था; इसलिये सबसे पहले उनकी शान्ति अभीष्ट होनी ही चाहिये थी। यह पितृपरितोष उनकी इष्ट शान्तिका कारण था, इसलिये सबसे पहले उन्होंने यही वर माँगा।

लौकिक शान्तिके पश्चात् मनुष्यको स्वभावसे ही पारलौकिक सुखकी इच्छा होती है; यहाँतक कि जब वह अधिक प्रबल हो जाती है तो वह ऐहिक सुखकी कुछ भी परवा नहीं करता। इसीलिये नचिकेताने भी दूसरे वरसे पारलौकिक सुख यानी स्वर्गलोककी प्राप्तिका साधनभूत अग्निविज्ञान माँगा; किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे स्वर्गसुखके इच्छुक थे। जिस प्रकार उनके पहले वरमें पिताकी शान्तिकामना थी उसी प्रकार इसमें मनुष्यमात्र-की हितचिन्ता थी। सबके हितमें उनका भी हित था ही। वे स्वयं स्वर्गसुखके लिये लालायित नहीं थे। यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है जब यमराजके यह कहनेपर कि—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥
(१।१।२५)

वे कहते हैं—

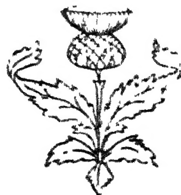
श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥२६॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥२७॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत॥२८॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥२९॥
(अ० १ व० १)

उपर्युक्त उद्धरणोंसे उनकी तीव्र जिज्ञासा और आत्मदर्शनकी अनवरत पिपासा स्पष्ट प्रतीत होती है। इसीसे प्रेरित होकर उन्होंने

तृतीय वर माँगा था। यमराजने उनकी जिज्ञासाकी परीक्षाके लिये उन्हें तरह-तरहके प्रलोभन दिये और बड़े-बड़े मनोमोहक सब्ज़बाग दिखलाये, परन्तु आत्मामृतके लिये लालायित नचिकेताने उनपर कोई दृष्टि न देकर यही कहा 'वरस्तु मे वरणीयः स एव' 'नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते' इत्यादि।

इस प्रकार, जब यमराजने देखा कि वे लौकिक और पारलौकिक भोगोंसे सर्वथा उदासीन हैं, उनमें पूर्ण विवेक विद्यमान है, वे शम-दमादि साधनोंसे सर्वथा सम्पन्न हैं और उनमें तीव्र मुमुक्षाकी प्रच्छन्न अग्नि तेजीसे धधक रही है तो उन्हें उनकी शान्तिके लिये ज्ञानामृतकी वर्षा करनी पड़ी। वह ज्ञानवर्षा ही सम्पूर्ण लोकोंका कल्याण करनेके लिये आज भी कठोपनिषद्के रूपमें विद्यमान है। परन्तु उससे विशुद्ध बोधरूप अंकुर तो उसी हृदयमें प्रस्फुटित हो सकता है जो नचिकेताके समान साधनचतुष्टयसम्पन्न है। परम उदार पयोधर जल तो सभी जगह बरसाते हैं; परन्तु उससे परिणाम भिन्न-भिन्न भूमियोंके योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न होता है। ठीक यही बात शास्त्रोपदेशके विषयमें भी है। शास्त्रकृपा और ईश्वरकृपा तो सभीपर समान है; परन्तु आत्मकृपाकी न्यूनाधिकताके कारण उससे होनेवाले परिणामोंमें अन्तर रहता है।

हम उस अनुपम अमृतका पानकर अमर जीवन प्राप्त कर सकें—ऐसी तीव्र आकाङ्क्षासे हमें उससे लाभान्वित होनेकी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये; क्योंकि 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' (के० उ० २। ५) इस श्रुतिके अनुसार इस मानवजीवनका परमलाभ आत्मामृतकी प्राप्ति ही है। इसलिये इसकी प्राप्ति ही हमारा प्रथम कर्तव्य है। भगवान्से प्रार्थना है कि वे हमें उसकी प्राप्तिकी योग्यता प्रदान करें। —अनुवादक



श्रीहरिः

विषय-सूची

तृतीया वल्ली

द्वितीय अध्याय

प्रथमा वल्ली

द्वितीया वल्ली

तृतीया वल्ली



यम और नचिकेता

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

कठोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
सर्वभावपदातीतं स्वात्मानं तं स्मराम्यहम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य) दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करें । हम दोनोंका साथ-साथ पालन करें । हम साथ-साथ विद्या-सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें । हम दोनोंका पढ़ा हुआ तेजस्वी हो । हम द्वेष न करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

सम्बन्ध-भाष्य

ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च ।

अथ काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थम् अल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते ।

सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति । उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते । केन पुनरर्थयोगेन उपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते ।

उपनिषच्छब्दार्थनिरुक्तिः

ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः

ॐ ब्रह्मविद्याके आचार्य सूर्य-पुत्र भगवान् यम और नचिकेताको नमस्कार है ।

अब कठोपनिषद्की वल्लियोंको सुगमतासे समझानेके लिये इस संक्षिप्त वृत्तिका आरम्भ किया जाता है ।

विशरण (नाश), गति और अवसादन (शिथिल करना)—इन तीन अर्थोंवाली तथा 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक एवं 'क्विप्' प्रत्ययान्त 'सद्' धातुका 'उपनिषद्' यह रूप बनता है । उपनिषद् शब्दसे, जिस ग्रन्थकी हम व्याख्या करना चाहते हैं उसके प्रतिपाद्य और वेद्य ब्रह्मविषयक विद्याका प्रतिपादन किया जाता है । किस अर्थका योग होनेके कारण उपनिषद् शब्दसे विद्याका कथन होता है, सो बतलाते हैं ।

जो मोक्षकामी पुरुष लौकिक और पारलौकिक विषयोंसे विरक्त होकर उपनिषद् शब्दकी वाच्य तथा आगे कहे जानेवाले लक्षणोंसे युक्त विद्याके समीप जाकर अर्थात् उसे प्राप्तकर उसीकी निष्ठासे निश्चय-पूर्वक उसका परिशीलन करते हैं

संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद् विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्या उपनिषदित्युच्यते । तथा च वक्ष्यति—"निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" (क० उ० १ । ३ । १५) इति ।

उनके अविद्या आदि संसारके बीजका विशरण—हिंसन अर्थात् विनाश करनेके कारण इस अर्थके योगसे ही 'उपनिषद्' शब्दसे वह विद्या कही जाती है । ऐसा ही आगे श्रुति कहेगी भी कि "उसे साक्षात् जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है ।"

पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषद् । तथा च वक्ष्यति—"ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः" (क०उ०२ । ३ । १८) इति ।

अथवा पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त मुमुक्षुओंको ब्रह्मविद्या परब्रह्मके पास पहुँचा देती है—इस प्रकार ब्रह्मके पास पहुँचानेवाली होनेके कारण इस अर्थके योगसे भी ब्रह्मविद्या 'उपनिषद्' है । ऐसा ही "ब्रह्मको प्राप्त हुआ पुरुष विरज (शुद्ध) और विमृत्यु (अमर) हो गया" इस वाक्यसे श्रुति आगे कहेगी भी ।

लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थ-

जो अग्नि भूः, भुवः आदि लोकोंसे पूर्वसिद्ध, ब्रह्मासे उत्पन्न और ज्ञाता है उससे सम्बन्ध रखनेवाली विद्या, जो कि दूसरे वरसे माँगी गयी है, और स्वर्गलोकरूप फलकी प्राप्तिके कारणरूपसे लोकान्तरोंमें पुनः-पुनः प्राप्त होनेवाले गर्भवास, जन्म और वृद्धावस्था आदि उपद्रवसमूहका अवसादन अर्थात् शैथिल्य करनेवाली है, अतः वह अग्निविद्या भी "सद्" धातुके

योगादग्निविद्याप्युपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—"स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते" (क० उ० १ । १ । १३) इत्यादि ।

अर्थके योगसे 'उपनिषद्' कही जाती है। "स्वर्गलोकको प्राप्त होनेवाले पुरुष अमरत्व प्राप्त करते हैं" ऐसा आगे कहेंगे भी ।

ननु चोपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति । उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च ।

शङ्का—किन्तु अध्ययन करनेवाले तो 'उपनिषद्' शब्दसे ग्रन्थका भी उल्लेख करते हैं, जैसे—'हम उपनिषद् पढ़ते हैं अथवा पढ़ाते हैं' इत्यादि ।

एवं नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसम्भवाद्विद्यायां च सम्भवात् । ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः, आयुर्वै घृतमित्यादिवत् । तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति ।

समाधान—ऐसा कहना भी दोषयुक्त नहीं है । संसारके हेतुभूत अविद्या आदिके विशरण आदि जो कि 'सद्' धातुके अर्थ हैं, ग्रन्थमात्रमें तो सम्भव नहीं हैं किन्तु विद्यामें सम्भव हो सकते हैं । ग्रन्थ भी विद्याके ही लिये है; इसलिये वह भी उस शब्दसे कहा जा सकता है; जैसे [आयुवृद्धिमें उपयोगी होनेके कारण] 'घृत आयु ही है' ऐसा कहा जाता है । इसलिये 'उपनिषद्' शब्द विद्यामें मुख्य वृत्तिसे प्रयुक्त होता है तथा ग्रन्थमें गौणी वृत्तिसे ।

एवमुपनिषन्निर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायामुक्तः । विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं

इस प्रकार 'उपनिषद्' शब्दका निर्वचन करनेसे ही विद्याका विशिष्ट अधिकारी बतला दिया गया । तथा विद्याका प्रत्यगात्मस्वरूप पर-

ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम् । प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा सम्बन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः । अतो यथोक्ताधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत् प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धा एता वल्ल्यो भवन्ति इत्यतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे ।

ब्रह्मरूप विशिष्टविषय भी कह दिया । इसी प्रकार इस उपनिषद्का संसारकी आत्यन्तिक निवृत्ति और ब्रह्मप्राप्तिरूप प्रयोजन तथा इस प्रकारके प्रयोजनसे इसका [साध्य-साधनरूप] सम्बन्ध भी बतला दिया । अतः उपर्युक्त अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्धवाली विद्याको करामलकवत् प्रकाशित करनेवाली होनेसे ये कठोपनिषद्की वल्लियाँ विशिष्ट अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्धवाली हैं, सो हम उनकी यथामति व्याख्या करते हैं ।



प्रथम अध्याय

प्रथमा वल्ली

वाजश्रवसका दान

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ । तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

प्रसिद्ध है कि यज्ञफलके इच्छुक वाजश्रवाके पुत्रने [विश्वजित् यज्ञमें] अपना सारा धन दे दिया । उसका नचिकेता नामक एक प्रसिद्ध पुत्र था ॥ १ ॥

तत्राख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । उशन्कामयमानः, ह वा इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ निपातौ । वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य स वाजश्रवा रूढितो वा । तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः । स तस्मिन्क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान् ।

यहाँ जो आख्यायिका है वह विद्याकी स्तुतिके लिये है । उशान् अर्थात् कामनावाला । 'ह' और 'वै' ये निपात पहले बीते हुए वृत्तान्तको स्मरण करानेके लिये हैं । 'वाज' अन्नको कहते हैं; उसके दानादिके कारण जिसका श्रव यानी यश हो उसे वाजश्रवा कहते हैं; अथवा रूढिसे भी यह उसका नाम हो सकता है । उस वाजश्रवाके पुत्र वाजश्रवसने, जिसमें सर्वस्व समर्पण किया जाता है उस विश्वजित् यज्ञद्वारा उसके फलकी इच्छासे यजन किया । उस यज्ञमें उसने सर्ववेदस् यानी अपना

तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किलास बभूव ॥ १ ॥

सारा धन दे डाला। कहते हैं, उस यजमानका नचिकेता नामक पुत्र था ॥ १ ॥

तꣳह कुमारꣳसन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

जिस समय दक्षिणाएँ (दक्षिणास्वरूप गौएँ) ले जायी जा रही थीं, उसमें—यद्यपि अभी वह कुमार ही था—श्रद्धा (आस्तिक्यबुद्धि) का आवेश हुआ। वह सोचने लगा ॥ २ ॥

तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तजननशक्तिं बालमेव श्रद्धास्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ताविवेश प्रविष्टवती। कस्मिन्काल इत्याह—ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्टश्रद्धो नचिकेता अमन्यत ॥ २ ॥

जो कुमार अर्थात् प्रथम अवस्थामें ही स्थित है और जिसे पुत्रोत्पादनकी शक्ति प्राप्त नहीं हुई, उस बालक नचिकेतामें श्रद्धाका अर्थात् पिताकी हितकामनासे प्रयुक्त आस्तिक्यबुद्धिका आवेश—प्रवेश हुआ। किस समय प्रवेश हुआ? इसपर कहते हैं—जिस समय ऋत्विक् और सदस्योंके लिये दक्षिणाएँ लायी जा रही थीं अर्थात् दक्षिणाके लिये विभाग करके गौएँ लायी जा रही थीं, उस समय नचिकेताने श्रद्धाविष्ट होकर विचार किया ॥ २ ॥

कथमित्युच्यते—

किस प्रकार विचार किया सो बतलाते हैं—

नचिकेताकी शङ्का

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥ ३॥

जो जल पी चुकी हैं, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमें प्रजननशक्तिका भी अभाव हो गया है उन गौओंका दान करनेसे वह दाता, जो अनन्द (आनन्दशून्य) लोक हैं उन्हींको जाता है ॥ ३ ॥

दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते। पीतमुदकं याभिस्ताः पीतोदकाः, जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः, दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः, निरिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः। यास्ता एवंभूता गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्ध्या ददत्प्रयच्छन्ननन्दा अनानन्दा असुखा नामेत्येतद्ये ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति ॥ ३ ॥

दक्षिणाके लिये लायी हुई गौओंका विशेषण बतलाते हैं; जिन्होंने जल पी लिया है, वे पीतोदका कहलाती हैं, जो तृण (घास) खा चुकी हैं [अर्थात् जिनमें और घास खानेकी शक्ति नहीं रही है] वे जग्धतृणा हैं, जिनका क्षीर नामक दोह दुहा जा चुका है वे दुग्धदोहा हैं तथा निरिन्द्रिया—जो सन्तान उत्पन्न करनेमें असमर्था अर्थात् बूढ़ी और निष्फल गौएँ हैं उन इस प्रकारकी गौओंको दक्षिणा-बुद्धिसे देनेवाला यजमान जो अनन्द अर्थात् सुखहीन लोक हैं उन्हींको जाता है ॥ ३ ॥



पिता-पुत्र-संवाद

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति । द्वितीयं तृतीयं। तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

तब वह अपने पितासे बोला—'हे तात ! आप मुझे किसको देंगे ?' इसी प्रकार उसने दुबारा-तिबारा भी कहा । तब पिताने उससे 'मैं तुझे मृत्युको दूँगा' ऐसा कहा ॥ ४ ॥

तदेवं क्रत्वसम्पत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयमात्मप्रदानेनापि क्रतुसम्पत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरम् उपगम्य स होवाच पितरं हे तत तात कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि प्रयच्छसीत्येतत् । एवमुक्तेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति । नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन्पिता तं ह पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥४॥

तब इस प्रकार यज्ञकी पूर्णता न होनेके कारण पिताको प्राप्त होनेवाला अनिष्ट फल मुझ-जैसे सत्पुत्रको आत्मबलिदान करके भी निवृत्त करना चाहिये—ऐसा मानकर वह पिताके समीप जाकर बोला—'हे तात ! आप मुझे किस ऋत्विग्विशेषको दक्षिणामें देंगे ?' इस प्रकार कहनेपर पिताद्वारा बारम्बार उपेक्षा किये जानेपर भी उसने दूसरे-तीसरे बार भी यही बात कही कि 'मुझे किसको देंगे ? मुझे किसको देंगे ?' तब पिता यह सोचकर कि यह बालकोंके-से स्वभाववाला नहीं है, क्रोधित हो गया और उस पुत्रसे बोला—'मैं तुझे सूर्यके पुत्र मृत्युको देता हूँ' ॥४॥

स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयाञ्चकार । कथम् ? इत्युच्यते—

पिताद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर वह पुत्र एकान्तमें अनुताप करने लगा, किस प्रकार ? सो बतलाते हैं—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किꣳस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

मैं बहुत-से [शिष्य या पुत्रों] में तो प्रथम (मुख्य वृत्तिसे) चलता हूँ और बहुतोंमें मध्यम (मध्यम वृत्तिसे) जाता हूँ । यमका ऐसा क्या कार्य है जिसे पिता आज मेरेद्वारा सिद्ध करेंगे ॥ ५ ॥

बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः । मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्यैमि । नाधमया कदाचिदपि । तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्तवान् पिता । स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रत्तेन करिष्यति यत्कर्तव्यमद्य ? नूनं प्रयोजनम् अनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान् पिता । तथापि तत्पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ॥५॥

मैं बहुत-से शिष्य अथवा पुत्रोंमें तो प्रथम अर्थात् आगे रहकर मुख्य शिष्यादि वृत्तिसे चलता हूँ तथा बहुत-से मध्यम शिष्यादिमें मध्यम रहकर मध्यम वृत्तिसे बर्तता हूँ । अधम वृत्तिसे मैं कभी नहीं रहता । उस ऐसे विशिष्ट-गुणसम्पन्न पुत्रको भी पिताने 'मैं तुझे मृत्युको देता हूँ' ऐसा कहा । परन्तु यमका ऐसा कौन-सा कर्तव्य—प्रयोजन इन्हे पूर्ण करना है जिसे ये इस प्रकार दिये हुए मेरेद्वारा सिद्ध करेंगे ? अवश्य किसी प्रयोजनकी अपेक्षा न करके ही पिताने क्रोधवश ऐसा कहा है । तथापि 'पिताका वचन मिथ्या न हो' ऐसा विचारकर उसने अपने पितासे, जो यह सोचकर कि 'मैंने क्या कह डाला ?' शोकातुर हो रहे थे, खेदपूर्वक कहा ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

जिस प्रकार पूर्वपुरुष व्यवहार करते थे उसका विचार कीजिये तथा जैसे वर्तमानकालिक अन्य लोग प्रवृत्त होते हैं उसे भी देखिये । मनुष्य खेतीकी तरह पकता (वृद्ध होकर मर जाता) है और खेतीकी भाँति फिर उत्पन्न हो जाता है ॥ ६ ॥

सन्मार्गः सदैव सेवनीयः

अनुपश्यालोचय निभालय अनुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वे अतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव । तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थांतुमर्हसि । वर्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्यालोचय तथा न च तेषु मृषाकरणं वृत्तं वर्तमानं वास्ति । तद्विपरीतमसतां वृत्तं मृषाकरणम् । न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति । यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते । मृत्वा च सस्यमिव आजायत आविर्भवति पुनरेवमनित्ये जीव-

आपके पिता-पितामह आदि पुरुष अनुक्रमसे जिस प्रकार आचरण करते आये हैं उसकी आलोचना कीजिये—उसपर दृष्टि डालिये । उन्हें देखकर आपको उन्हींके आचरणोंका पालन करना चाहिये । तथा वर्तमानकालिक जो दूसरे साधुलोग आचरण करते हैं उनकी भी आलोचना कीजिये । उनमेंसे किसीका भी आचरण अपने कथनको मिथ्या करना नहीं था और न इस समय ही किसीका है । इसके विपरीत असत्पुरुषोंका आचरण मिथ्या करना ही है । किन्तु अपने आचरणको मृषा करके कोई अजर-अमर नहीं हो सकता । क्योकि मनुष्य खेतीकी तरह पकता अर्थात् जीर्ण होकर मर जाता है, तथा मरकर खेतीके समान पुनः उत्पन्न—आविर्भूत हो जाता है । इस प्रकार इस अनित्य जीवलोकमें

लोके किं मृषाकरणेन । पालय आत्मनः सत्यम् । प्रेषय मां यमाय इत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

असत्य आचरणसे लाभ ही क्या है ? अतः अपने सत्यका पालन कीजिये अर्थात् मुझे यमराजके पास भेजिये ॥ ६ ॥

यमलोकमें नचिकेता

स एवमुक्तः पितात्मनः सत्यतायै प्रेषयामास । स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीः उवास यमे प्रोषिते । प्रोष्यागतं यमममात्या भार्या वा ऊचुर्बोधयन्तः—

पुत्रके इस प्रकार कहनेपर पिताने अपनी सत्यताकी रक्षाके लिये उसे यमराजके पास भेज दिया । वह यमराजके घर पहुँचकर तीन रात्रि टिका रहा, क्योंकि यम उस समय बाहर गये हुए थे । प्रवाससे लौटनेपर यमराजसे उनकी भार्या अथवा मन्त्रियोंने समझाते हुए कहा—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताᳪं शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मण-अतिथि होकर अग्नि ही घरोंमें प्रवेश करता है । [साधु पुरुष] उस अतिथिकी यह [अर्घ्य-पाद्य-दानरूपा] शान्ति किया करते हैं । अतः हे वैवस्वत ! [इस ब्राह्मण-अतिथिकी शान्तिके लिये] जल ले जाइये ॥ ७ ॥

वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात् प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराहर हे वैवस्वत

ब्राह्मण-अतिथिके रूपमें साक्षात् वैश्वानर—अग्नि ही दग्ध करता हुआ-सा घरोंमें प्रवेश करता है । उस अग्निके दाहको मानो शान्त करते हुए ही साधु-गृहस्थजन यह पाद्यादि दानरूप शान्ति किया करते हैं । अतः हे वैवस्वत !

उदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम् । यत-आकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥७॥

नचिकेताको पाद्य देनेके लिये जल ले जाइये । क्योंकि ऐसा न करनेमें प्रत्यवाय सुना जाता है ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे संगतꣳसूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान् ।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

जिसके घरमे ब्राह्मण-अतिथि बिना भोजन किये रहता है उस मन्दबुद्धि पुरुषकी ज्ञात और अज्ञात वस्तुओकी प्राप्तिकी इच्छाएँ, उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाले फल, प्रिय वाणीसे होनेवाले फल, यागादि इष्ट एवं उद्यानादि पूर्त कर्मोंके फल तथा समस्त पुत्र और पशु आदिको वह नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

अतिथ्युपेक्षणे दोषा.

आशाप्रतीक्षेऽनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थना आशा निर्ज्ञातप्राप्यार्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशाप्रतीक्षे, संगतं तत्संयोगजं फलम्, सूनृतां च सूनृता हि प्रिया वाक्तन्निमित्तं च, इष्टापूर्ते इष्टं यागजं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम्, पुत्रपशूꣳश्च पुत्रांश्च पशूंश्च सर्वानेतत्सर्वं यथोक्तं वृङ्क्त आवर्जयति विनाशयतीत्येतत्-पुरुषस्याल्पमेधसोऽल्पप्रज्ञस्य—यस्यानश्नन्नभुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे

जिसके घरमे ब्राह्मण बिना भोजन किये रहता है उस मन्दमति पुरुषके 'आशा-प्रतीक्षा'—आशा—जिनका कोई ज्ञान नहीं है उन प्राप्तव्य इष्ट पदार्थोंकी इच्छा तथा अपने प्राप्तव्य ज्ञात पदार्थोंकी प्रतीक्षा एवं संगत—उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाले फल, सूनृता—प्रिय वाणी और उससे होनेवाले फल 'इष्टापूर्त'—इष्ट—यागादिसे प्राप्त होनेवाले फल और पूर्त—बाग-बगीचोके लगानेसे होनेवाले फल तथा पुत्र और पशु—इन उपर्युक्त सभीको नष्ट कर देता है। अतः तात्पर्य

संप्रसादनार्थमनशनेनोपोषिताम् एकैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान् वृणीष्व अभिप्रेतार्थविशेषान् प्रार्थयस्व मत्तः ॥ ९ ॥

अपनी अधिक प्रसन्नताके लिये तुम बिना भोजन किये बितायी हुई एक-एक रात्रिके प्रति मुझसे तीन वर—अपने अभीष्ट पदार्थविशेष माँग लो ॥ ९ ॥

नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वरान्—

नचिकेताने कहा—यदि आप वर देना चाहते हैं तो—

प्रथम वर—पितृपरितोष

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्या-
द्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत
एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

हे मृत्यो ! जिससे मेरे पिता वाजश्रवस मेरे प्रति शान्तसङ्कल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायँ तथा आपके भेजनेपर मुझे पहचानकर बातचीत करें—यह मैं [आपके दिये हुए] तीन वरोंमेंसे पहला वर माँगता हूँ ॥ १० ॥

शान्तसंकल्प उपशान्तः संकल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद्वीतमन्युर्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता माभि मां प्रति हे मृत्यो किं च त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मामभिवदेत्प्रतीतो लब्ध-

जिस प्रकार मेरे पिता गौतम मेरे प्रति शान्तसङ्कल्प—जिनका ऐसा सङ्कल्प शान्त हो गया है कि 'न जाने मेरा पुत्र यमराजके पास जाकर क्या करेगा', सुमनाः—प्रसन्नचित्त और वीतमन्यु—क्रोधरहित हो जायँ और हे मृत्यो ! आपके भेजे हुए—घरकी ओर जानेके लिये छोड़े हुए मुझसे विश्वस्त—लब्धस्मृति होकर अर्थात्

स्मृतिः स एवायं पुत्रो ममागत इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः । एतत्प्रयोजनं त्रयाणां प्रथममाद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत्पितुः परितोषणम् ॥ १० ॥

ऐसा स्मरण करके कि यह मेरा वही पुत्र मेरे पास लौट आया है, सम्भाषण करें । यह अपने पिताकी प्रसन्नतारूप प्रयोजन ही मैं अपने तीन वरोंमेंसे पहला वर माँगता हूँ ॥ १० ॥

मृत्युरुवाच—

मृत्युने कहा—

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः
सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥ ११ ॥

मुझसे प्रेरित होकर अरुणपुत्र उद्दालक तुझे पूर्ववत् पहचान लेगा और शेष रात्रियोंमें सुखपूर्वक सोवेगा; क्योंकि तुझे मृत्युके मुखसे छूटकर आया हुआ देखेगा ॥ ११ ॥

यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात् पूर्वमासीत्स्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव प्रतीतवान्सन्नौद्दालकिः उद्दालक एवौद्दालकिः । अरुणस्यापत्यमारुणिः,द्व्यामुष्यायणो वा । मत्प्रसृष्टो मयानुज्ञातः

तेरे पिताकी बुद्धि जिस प्रकार पहले तेरे प्रति स्नेहयुक्त थी उसी प्रकार वह औद्दालकि अब भी प्रीतियुक्त होकर तेरे प्रति विश्वस्त हो जायगा । यहाँ उद्दालकको ही 'औद्दालकि' कहा है तथा अरुणका पुत्र होनेसे वह आरुणि है । अथवा यह भी हो सकता है कि वह द्व्यामुष्यायण* हो । 'मत्प्रसृष्टः'

* जो एक ही पुत्र दो पिताओंद्वारा संकेत करके अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया जाता है वह 'द्व्यामुष्यायण' कहलाता है । वह अकेला ही दोनों पिताओंकी सम्पत्तिका स्वामी और उन्हें पिण्डदान करनेका अधिकारी होता है । जैसे पुत्ररूपसे स्वीकार किया हुआ पुत्रीका पुत्र अथवा अन्य दत्तकपुत्र आदि । अतः अकेले वाजश्रवसको ही औद्दालकि और आरुणि कहनेसे यह सम्भव है कि वह उद्दालक और अरुण दो पिताओंका उत्तराधिकारी हो ।

सन् इतरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान्दृष्टवान्स मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात् प्रमुक्तं सन्तम् ॥ ११ ॥

अर्थात् मुझसे आज्ञप्त होकर वह शेष रात्रियोंमें भी सुखपूर्वक यानी प्रसन्न चित्तसे शयन करेगा तथा [यह सोचकर] वीतमन्यु—क्रोधहीन हो जायगा कि तुझ पुत्रको मृत्युके मुखसे अर्थात् मृत्युके अधिकारसे मुक्त हुआ देखा है ॥११॥

नचिकेता उवाच—

नचिकेता बोला—

स्वर्गस्वरूपप्रदर्शन

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

हे मृत्युदेव ! स्वर्गलोकमें कुछ भी भय नहीं है । वहाँ आपका भी वश नहीं चलता । वहाँ कोई वृद्धावस्थासे भी नहीं डरता । स्वर्गलोकमें पुरुष भूख-प्यास—दोनोंको पार करके शोकसे ऊपर उठकर आनन्दित होता है ॥ १२ ॥

स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किंचन किंचिदपि नास्ति । न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह लोकवत्त्वत्तो न बिभेति कुतश्चित् तत्र । किंचोभे अशनायापिपासे तीर्त्वातिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्

स्वर्गलोकमें रोगादिके कारण होनेवाला भय तनिक भी नहीं है । हे मृत्यो ! वहाँ आपकी भी सहसा दाल नहीं गलती । अतः इस लोकके समान वहाँ वृद्धावस्थासे युक्त होकर कोई पुरुष आपसे कहीं नहीं डरता । बल्कि पुरुष भूख-प्यास दोनोंको पार करके जो शोकका अतिक्रमण कर जाय ऐसा

मानसेन दुःखेन वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥१२॥

शोकातीत होकर—मानसिक दुःख-से छुटकारा पाकर उस दिव्य स्वर्ग-लोकमें आनन्दित होता है ॥१२॥

द्वितीय वर—स्वर्गसाधनभूत अग्निविद्या

स त्वमग्निꣳस्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो
प्रब्रूहि त्वꣳश्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त
एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

हे मृत्यो ! आप स्वर्गके साधनभूत अग्निको जानते हैं, सो मुझ श्रद्धालुके प्रति उसका वर्णन कीजिये, [जिसके द्वारा] स्वर्गको प्राप्त हुए पुरुष अमृतत्व प्राप्त करते हैं । दूसरे वरसे मैं यही माँगता हूँ ॥ १३ ॥

एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स त्वं मृत्युरध्येषि स्मरसि जानासि इत्यर्थः, हे मृत्यो यतस्त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने; येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोकाः यजमाना अमृतत्वम् अमरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥ १३ ॥

हे मृत्यो ! क्योंकि आप ऐसे गुण-वाले स्वर्गलोककी प्राप्तिके साधनभूत अग्निको स्मरण रखते यानी जानते हैं, अतः मुझ स्वर्गार्थी श्रद्धालुके प्रति उसका वर्णन कीजिये; जिस अग्निका चयन करनेसे स्वर्गको प्राप्त करने-वाले पुरुष अर्थात् स्वर्ग ही जिनका लोक है ऐसे यजमानगण अमृतत्व—अमरता अर्थात् देवभावको प्राप्त हो जाते हैं । इस अग्निविज्ञानको मैं दूसरे वरद्वारा माँगता हूँ ॥१३॥

मृत्योः प्रतिज्ञेयम्— | यह मृत्युकी प्रतिज्ञा है-

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

हे नचिकेतः ! उस स्वर्गप्रद अग्निको अच्छी तरह जाननेवाला मैं तेरे प्रति उसका उपदेश करता हूँ । तू उसे मुझसे अच्छी तरह समझ ले । इसे तू अनन्तलोककी प्राप्ति करानेवाला, उसका आधार और बुद्धिरूपी गुहामें स्थित जान ॥ १४ ॥

प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि; यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन्स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन्विज्ञातवानहं सन्नित्यर्थः । प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम् ।

हे नचिकेतः ! जिसके लिये तुमने प्रार्थना की थी उस स्वर्ग्य—स्वर्गप्राप्तिमें हितावह अर्थात् स्वर्गके साधनरूप अग्निको तू एकाग्रचित्त होकर मेरे वचनसे अच्छी तरह समझ ले, उसे सम्यक् प्रकारसे जाननेवाला—उसका विशेषज्ञ मैं तेरे प्रति उसका वर्णन करता हूँ । 'मैं कहता हूँ' 'तू उसे समझ ले' ये वाक्य शिष्यकी बुद्धिको समाहित करनेके लिये हैं ।

अधुनाग्निं स्तौति । अनन्तलोकाप्तिं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनम् इत्येतत्, अथो अपि प्रतिष्ठाम् आश्रयं जगतो विराड्रूपेण, तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ॥ १४ ॥

अब उस अग्निकी स्तुति करते हैं । जो अनन्तलोकाप्ति अर्थात् स्वर्गलोकरूप फलकी प्राप्तिका साधन तथा विराट्‌रूपसे जगत्‌की प्रतिष्ठा—आश्रय है, मेरेद्वारा कहे हुए उस इस अग्निको तू गुहामें अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषोंकी बुद्धिमें स्थित जान ॥ १४ ॥

इदं श्रुतेर्वचनम्— | यह श्रुतिका वचन है—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै
या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

तब यमराजने लोकोंके आदिकारणभूत उस अग्निका तथा उसके चयन करनेमे जैसी और जितनी ईंटे होती हैं, एवं जिस प्रकार उसका चयन किया जाता है उन सबका नचिकेताके प्रति वर्णन कर दिया । और उस नचिकेताने भी जैसा उससे कहा गया था वह सब सुना दिया । इससे प्रसन्न होकर मृत्यु फिर बोला ॥ १५ ॥

लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितमुवाचोक्तवान् मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे । किं च या इष्टकाश्चेतव्याः स्वरूपेण, यावतीर्वा संख्यया, यथा वा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतद् उक्तवानित्यर्थः । स चापि नचिकेतास्तन्मृत्युनोक्तं यथावत्प्रत्ययेनावदत्प्रत्युच्चारितवान् । अथ तस्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन्मृत्युः पुनरेवाह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः ॥ १५ ॥

नचिकेताने जिसके लिये प्रार्थना की थी और जिसका प्रकरण चल रहा है प्रथम शरीरी होनेके कारण लोकोंके आदिभूत उस अग्निका यमने नचिकेताके प्रति वर्णन कर दिया । तथा स्वरूपतः जिस प्रकारकी और संख्यामे जितनी ईंटोंका चयन करना चाहिये एवं यथा यानी जिस तरह अग्निका चयन किया जाता है वह सब भी कह दिया । तथा उस नचिकेताने भी, जिस प्रकार उसे मृत्युने बताया था वह सब समझकर ज्यों-का-त्यों सुना दिया । तब उसके प्रत्युच्चारणसे प्रसन्न हो मृत्युने इन तीन वरोंके अतिरिक्त और भी वर देनेकी इच्छासे उससे फिर कहा ॥ १५ ॥

कथम्— कैसे कहा [सो बतलाते हैं—

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

महात्मा यमने प्रसन्न होकर उससे कहा—अब मैं तुझे एक वर और भी देता हूँ । यह अग्नि तेरे ही नामसे प्रसिद्ध होगा और तू इस अनेक रूपवाली मालाको ग्रहण कर ॥ १६ ॥

तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन्महात्माक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तमद्येदानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि । तवैव नचिकेतसो नाम्नाभिधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः । किं च सृङ्कां शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु । यद्वा सृङ्काम् अकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात्स्वीकुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

अपने शिष्यकी योग्यताको देखकर प्रसन्न हुए—प्रीतिका अनुभव करते हुए महात्मा—अक्षुद्रबुद्धि यमने नचिकेतासे कहा—अब मैं प्रसन्नताके कारण तुझे फिर भी यह चौथा वर और देता हूँ । मेरेद्वारा कहा हुआ यह अग्नि तुझ नचिकेताके ही नामसे प्रसिद्ध होगा तथा तू यह शब्द करनेवाली रत्नमयी, अनेकरूपा विचित्रवर्णा मालाका भी ग्रहण—स्वीकार कर । अथवा सृङ्का यानी कर्ममयी अनिन्दिता गतिका ग्रहण कर । तात्पर्य यह है कि इसके सिवा अनेक फलका कारण होनेसे तू मुझसे कर्मविज्ञानको और भी स्वीकृत कर ॥ १६ ॥

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाह—

यमराज फिर भी कर्मकी स्तुति ही करते हैं—

नाचिकेत अग्निचयनका फल

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं
त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा
निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेत अग्निका तीन बार चयन करनेवाला मनुष्य [माता, पिता और आचार्य—इन] तीनोंसे सम्बन्धको प्राप्त होकर जन्म और मृत्युको पार कर जाता है । तथा ब्रह्मसे उत्पन्न हुए, ज्ञानवान् और स्तुतियोग्य देवको जानकर और उसे अनुभव कर इस अत्यन्त शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा । त्रिभिर्मातृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य सन्धिं सन्धानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत् । तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तराद् अवगम्यते यथा "मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्" (बृ० उ० ४ । १ । २) इत्यादेः ।

जिसने तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन किया है उसे त्रिणाचिकेत कहते हैं । अथवा उसका ज्ञान अध्ययन और अनुष्ठान करनेवाला ही त्रिणाचिकेत है । वह त्रिणाचिकेत माता, पिता और आचार्य—इन तीनोंसे सन्धि—सन्धान यानी सम्बन्धको प्राप्त होकर अर्थात् यथाविधि माता आदिकी शिक्षाको प्राप्त कर; क्योंकि एक दूसरी श्रुतिसे, जैसा कि—"माता, पिता एवं आचार्यसे शिक्षित पुरुष कहे" इत्यादि श्रुतिसे जाना जाता है, उनकी शिक्षा ही धर्मज्ञानकी प्रामाणिकतामें हेतु मानी गयी है,

वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा, तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा, त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू ।	अथवा वेद, स्मृति और शिष्ट पुरुषोसे या प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे [सम्बन्ध प्राप्त करके] यज्ञ, अध्ययन और दान—इन तीन कर्मोंको करनेवाला पुरुष जन्म और मृत्युको तर जाता है—उन्हे पार कर लेता है, क्योकि उन (वेदादि अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणो) से स्पष्ट ही शुद्धि होती देखी है ।
किं च ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः। ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ । तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो, निचाय्य दृष्ट्वा चात्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिम् उपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति । वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥	तथा 'ब्रह्मजज्ञ' ब्रह्मज—ब्रह्मा यानी हिरण्यगर्भसे उत्पन्न हुआ ब्रह्मज कहलाता है इस प्रकार जो ब्रह्मज है और ज्ञ (ज्ञाता) भी है उसे ब्रह्मजज्ञ कहते हैं, क्योकि वह सर्वज्ञ है । उस देवको—जो द्योतन आदिके कारण देव कहलाता है और ज्ञानादि गुणवान् होनेसे ईड्य—स्तुतियोग्य है, उसे शास्त्रसे जानकर और 'निचाय्य' अर्थात् आत्मभावसे देखकर अपनी बुद्धिसे प्रत्यक्ष होनेवाली इस आत्यन्तिक शान्ति—उपरतिको प्राप्त हो जाता है । अर्थात् ज्ञान और कर्मके समुच्चयका अनुष्ठान करनेमे वैराज पदको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

इदानीमग्निविज्ञानचयनफलम् उपसंहरति प्रकरणं च—	अब अग्निविज्ञान और उसके चयनके फलका तथा इस प्रकरणका उपसहार करते है—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

जो त्रिणाचिकेत विद्वान् अग्निके इस त्रयको [यानी कौन ईंटें हों; कितनी संख्यामें हों और किस प्रकार अग्निचयन किया जाय—इसको] जानकर नाचिकेत अग्निका चयन करता है, वह देहपातसे पूर्व ही मृत्युके बन्धनोंको तोड़कर शोकसे पार हो स्वर्गलोकमें आनन्दित होता है ॥ १८ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद् विदित्वावगत्य यश्चैवमात्मरूपेण अग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशान् अधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान् पुरतः अग्रतः पूर्वमेव शरीरपातात् इत्यर्थः, प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत् मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या ॥१८॥

जो त्रिणाचिकेत अग्निके पूर्वोक्त त्रयको जानकर अर्थात् जो ईंटें होनी चाहिये, जितनी होनी चाहिये तथा जिस प्रकार. अग्नि चयन करना चाहिये—इन तीनों बातोंको समझकर उस अग्निको आत्मस्वरूपसे जाननेवाला जो विद्वान् अग्नि—क्रतुका चयन करता—साधन करता है वह अधर्म, अज्ञान और रागद्वेषादिरूप मृत्युके बन्धनोंका पुरतः—अग्रतः अर्थात् देहपातसे पूर्व ही अपनोदन—त्याग करके शोकसे पार हुआ अर्थात् मानसिक दुःखोसे मुक्त हुआ स्वर्गमें यानी वैराज लोकमें विराडात्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे आनन्दित होता है ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

हे नचिकेतः ! तूने द्वितीय वरसे जिसका वरण किया था वह यह स्वर्गका साधनभूत अग्नि तुझे बतला दिया । लोग इस अग्निको तेरा ही कहेंगे । हे नचिकेतः ! तू तीसरा वर और माँग ले ॥ १९ ॥

एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यः स्वर्गसाधनो यमग्निं वरमवृणीथाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः । किञ्चैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतत् । एष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन । तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व । तस्मिन्ह्यदत्त ऋणवानहमित्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

हे नचिकेतः ! अपने दूसरे वरसे तूने जिस अग्निका वरण किया था—जिसके लिये तूने प्रार्थना की थी वह स्वर्गप्राप्तिका साधनभूत यह अग्निविज्ञानरूप वर मैंने तुझे दे दिया । इस प्रकार उपर्युक्त अग्निविज्ञानका उपसंहार कहा गया । यही नहीं, लोग इस अग्निको तेरे ही नामसे पुकारेंगे । यह तुझसे प्रसन्न हुए मैंने तुझे चौथा वर दिया था । हे नचिकेतः ! अब तू तीसरा वर और माँग ले; क्योंकि उसे बिना दिये मैं ऋणी ही हूँ—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ १९ ॥

एतावद्ध्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्वरद्वयसूचितं वस्तु ।

विधि-प्रतिषेध ही जिसके प्रयोजन हैं ऐसे उपर्युक्त मन्त्र-ब्राह्मणद्वारा इन दो वरोंसे सूचित इतनी ही वस्तु ज्ञातव्य है ।

न आत्मतत्त्वविषययाथात्म्यविज्ञानम्। अतो विधिप्रतिषेधार्थविषयस्यात्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफलाध्यारोपणलक्षणशून्यम् आत्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमिति उत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याप्यकृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेण इत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति— यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्तस्य आत्मज्ञानेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते।

नचिकेता उवाच तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन्—

आत्मतत्त्वविषयक यथार्थ ज्ञान इसका विषय नहीं है। अब, जो विधि-प्रतिषेधका विषय है, आत्मामें क्रिया, कारक और फलका अध्यारोप करना ही जिसका लक्षण है तथा जो संसारका बीजस्वरूप है उस स्वाभाविक अज्ञानकी निवृत्तिके लिये उससे विपरीत ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान कहना है, जो कि क्रिया, कारक और फलके अध्यारोपरूप लक्षणसे शून्य और आत्यन्तिक निःश्रेयसरूप प्रयोजनवाला है; इसीके लिये आगेके ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है। इसी बातको आख्यायिकाद्वारा विस्तृत करते हैं कि तीसरे वरसे प्राप्त होनेवाले आत्मज्ञानके बिना द्वितीय वरकी प्राप्तिसे भी अकृतार्थता ही है; क्योंकि आत्मज्ञानमें उसी पुरुषका अधिकार है जो पूर्वोक्त कर्मविषयक साध्य-साधनलक्षण एवं अनित्य फलोंसे विरक्त हो गया हो। इसलिये उनकी निन्दाके लिये पुत्रादिके उपन्याससे नचिकेताको प्रलोभित किया जाता है।

'हे नचिकेतः! तुम तीसरा वर माँग लो' इस प्रकार कहे जानेपर नचिकेता बोला—

तृतीय वर—आत्मरहस्य

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं 'रहता है' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'; आपसे शिक्षित हुआ मैं इसे जान सकूँ । मेरे वरोंमें यह तीसरा वर है ॥ २० ॥

येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्ध्यात्मेत्येके नायम् अस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चैकेऽतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वानुमानेन निर्णयविज्ञानमेतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहम् अनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया । वराणाम् एष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ॥२०॥

मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो इस प्रकारका सन्देह है कि कोई लोग तो ऐसा कहते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे अतिरिक्त देहान्तरसे सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा रहता है और किन्हींका कथन है कि ऐसा कोई आत्मा नहीं रहता; अतः इसके विषयमें हमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे कोई निश्चित ज्ञान नहीं होता और परम पुरुषार्थ इस विज्ञानके ही अधीन है । इसलिये आपसे शिक्षित अर्थात् विज्ञापित होकर मैं इसे भली प्रकार जान सकूँ । यही मेरे वरोंमेंसे बचा हुआ तीसरा वर है ॥ २० ॥



किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्परीक्षणार्थमाह—

यह (नचिकेता) निःश्रेयसके साधन आत्मज्ञानके योग्य पूर्णतया है या नहीं—इस बातकी परीक्षा करनेके लिये यमराजने कहा—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

पूर्वकालमें इस विषयमें देवताओंको भी सन्देह हुआ था; क्योंकि यह सूक्ष्मधर्म सुगमतासे जानने योग्य नहीं है । हे नचिकेतः ! तू दूसरा वर माँग ले, मुझे न रोक । तू मेरे लिये यह वर छोड़ दे ॥ २१ ॥

देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं न हि सुज्ञेयं सुष्ठु ज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः सूक्ष्म एष आत्माख्यो धर्मोऽतोऽन्यमसंदिग्धफलं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मां मोपरोत्सीरुपरोधं मा कार्षीरधमर्णम् इवोत्तमर्णः । अतिसृज विमुञ्च एनं वरं मा मां प्रति ॥ २१ ॥

इस आत्मतत्त्वके विषयमें पहले—पूर्वकालमें देवताओंने भी विचिकित्सा—संशय किया था । साधारण पुरुषोंके लिये यह तत्त्व सुने जानेपर भी सुज्ञेय—अच्छी तरह जानने योग्य नहीं है; क्योंकि यह 'आत्मा' नामवाला धर्म बड़ा ही अणु—सूक्ष्म है । अतः हे नचिकेतः ! कोई दूसरा निश्चित फल देनेवाला वर माँग ले । जैसे धनी ऋणीको दबाता है उसी प्रकार तू मुझे न रोक । इस वरको तू मेरे लिये छोड़ दे ॥ २१ ॥

नचिकेताकी स्थिरता

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

[नचिकेता बोला—] हे मृत्यो ! इस विषयमें निश्चय ही देवताओंको भी सन्देह हुआ था तथा इसे आप भी सुगमतासे जानने योग्य नहीं बतलाते । [इसीसे वह मुझे और भी अधिक अभीष्ट है] तथा इस धर्मका वक्ता भी आपके समान अन्य कोई नहीं मिल सकता और न इसके समान कोई दूसरा वर ही है ॥ २२ ॥

देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं किलेति भवत एव नः श्रुतम् । त्वं च मृत्यो यद्यस्मान्न सुज्ञेयमात्मतत्त्वमात्थ कथयसि, अतः पण्डितैरप्यवेदनीयत्वाद् वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक्त्वत्तुल्यः अन्यः पण्डितश्च न लभ्यः अन्विष्यमाणोऽपि । अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुः । अतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

यह बात हमने अभी आपहीसे सुनी है कि इस विषयमें देवताओंने भी सन्देह किया था । और हे मृत्यो ! आप भी इस आत्मतत्त्वको सुगमतासे जानने योग्य नहीं बतलाते । अतः पण्डितोंसे अज्ञातव्य होनेके कारण इस धर्मका कथन करनेवाला आपके समान कोई और पण्डित ढूँढ़नेसे भी नहीं मिल सकता । और यह वर भी निःश्रेयसकी प्राप्तिका कारण है । अतः इसके समान और कोई भी वर नहीं है; क्योंकि और सभी वर अनित्य फलयुक्त हैं——यह इसका अभिप्राय है ॥ २२ ॥

यमराजका प्रलोभन

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—

नचिकेताके इस प्रकार कहनेपर भी मृत्यु उसे प्रलोभित करता हुआ फिर बोला—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व
बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

हे नचिकेतः ! तू सौ वर्षकी आयुवाले बेटे-पोते, बहुत-से पशु, हाथी, सुवर्ण और घोड़े माँग ले, विशाल भूमण्डल भी माँग ले तथा स्वयं भी जितने वर्ष इच्छा हो जीवित रह ॥ २३ ॥

शतायुषः शतं वर्षाण्यायूंषि एषां ताञ्शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व । किं च गवादिलक्षणान् बहून्पशून् हस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम् अश्वांश्च किं च भूमेः पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलं राज्यं वृणीष्व । किं च सर्वमप्येतद् अनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह—स्वयं च जीव त्वं जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम् ॥ २३ ॥

जिनकी सौ वर्षकी आयु हो ऐसे शतायु पुत्र और पौत्र माँग ले। तथा गौ आदि बहुत-से पशु, हाथी और सुवर्ण तथा घोड़े और पृथिवीका महान् विस्तृत आयतन—आश्रय—मण्डल अर्थात् राज्य माँग ले। परन्तु यदि स्वयं अल्पायु हो तो ये सब व्यर्थ ही हैं—इसलिये कहते हैं—तू स्वयं भी जितना जीना चाहे उतने वर्ष जीवित रह; अर्थात् शरीर यानी समग्र इन्द्रिय-कलापको धारण कर ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

इसीके समान यदि तू कोई और वर समझता हो तो उसे, अथवा धन और चिरस्थायिनी जीविका माँग ले। हे नचिकेतः! इस विस्तृत भूमिमें तू वृद्धिको प्राप्त हो। मैं तुझे कामनाओंको इच्छानुसार भोगनेवाला किये देता हूँ ॥ २४ ॥

एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व। किं च वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत्। किं बहुना महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव। किं चान्यत्कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः ॥ २४ ॥

इस उपर्युक्त वरके समान यदि तू कोई और वर समझता हो तो उसे भी माँग ले। यही नहीं, धन अर्थात् प्रचुर सुवर्ण और रत्न आदि तथा उस धनके साथ चिरस्थायिनी जीविका भी माँग ले। अधिक क्या, हे नचिकेतः! इस विस्तृत भूमिमें तू राजा होकर वृद्धिको प्राप्त हो। और तो क्या, मैं तुझे दैवी और मानुषी सभी कामनाओंका कामभागी अर्थात् इच्छानुसार भोगनेवाला किये देता हूँ; क्योंकि मैं सत्यसङ्कल्प देवता हूँ ॥ २४ ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

मनुष्यलोकमें जो-जो भोग दुर्लभ हैं उन सब भोगोंको तू स्वच्छन्दतापूर्वक माँग ले । यहाँ रथ और बाजोंके सहित ये रमणियाँ हैं । ऐसी स्त्रियाँ मनुष्योंको प्राप्त होने योग्य नहीं होतीं । मेरेद्वारा दी हुई इन कामिनियोंसे तू अपनी सेवा करा । परन्तु हे नचिकेतः ! तू मरणसम्बन्धी प्रश्न मत पूछ ॥ २५ ॥

ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके सर्वांस्तान् कामांश्छन्दत इच्छातः प्रार्थयस्व । किं चेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि लम्भनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुष्यैर्मर्त्यैरस्मदादिप्रसादमन्तरेण । आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिचारिणीभिः परिचारयस्व आत्मानं पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारयात्मन इत्यर्थः । नचिकेतो

इस मर्त्यलोकमें जो-जो कामनाएँ—प्रार्थनीय वस्तुएँ दुर्लभ हैं उन सबको छन्दतः—इच्छानुसार माँग ले । इसके सिवा ये रामा—जो पुरुषोंके साथ रमण करती हैं उन्हें 'रामा' कहते हैं, ऐसी ये दिव्य अप्सराएँ, सरथा—रथोंके सहित और सतूर्या—तूर्यों (बाजों) के सहित मौजूद हैं । हम-जैसे देवताओंकी कृपाके बिना ये अर्थात् ऐसी स्त्रियाँ मरणधर्मा मनुष्योंको प्राप्त होने योग्य नहीं हैं । मेरेद्वारा दी हुई इन परिचारिकाओंसे तू अपनी परिचर्या अर्थात् पादप्रक्षालनादि सेवा करा; किन्तु हे नचिकेतः ! मरण अर्थात्

मरणं मरणसंबद्धं प्रश्नं प्रेतेऽस्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं मानुप्राक्षीर्मैवं प्रष्टुमर्हसि ॥२५॥

मरनेके पश्चात् जीव रहता है या नहीं—ऐसा कौएके दाँतोंकी परीक्षाके समान मरणसम्बन्धी प्रश्न मत पूछ, तुझे ऐसा प्रश्न करना उचित नहीं है ॥ २५ ॥

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाह्रदवदक्षोभ्य आह—

इस प्रकार प्रलोभित किये जानेपर भी नचिकेताने महान् सरोवरके समान अक्षुब्ध रहकर कहा—

नचिकेताकी निरीहता

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैत-
त्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

हे यमराज ! ये भोग 'कल रहेंगे या नहीं'—इस प्रकारके हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण कर देते हैं । यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा ही है । आपके वाहन और नाच-गान आपके ही पास रहें हमें उनकी आवश्यकता नहीं ॥ २६ ॥

श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति संदिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः । किं च मर्त्यस्य मनुष्यस्यान्तक हे मृत्यो यदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्ति अपक्षयन्त्यप्सरःप्रभृतयो भोगाः

आपने जिन भोगोंका उल्लेख किया है वे तो श्वोभाव हैं—जिनका भाव अर्थात् अस्तित्व 'कल रहेंगे या नहीं' इस प्रकार सन्देहयुक्त हो उन्हें श्वोभाव कहते हैं । बल्कि हे अन्तक—हे मृत्यो ! ये अप्सरा आदि भोग तो मनुष्यका जो यह सम्पूर्ण इन्द्रियोंका तेज है उसे

अनर्थायैवैते धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात् । यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु । सर्वं यद्ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्पमेव किमुतास्मदादिदीर्घजीविका । अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयः तथा नृत्यगीते च ॥ २६ ॥

जीर्ण—क्षीण ही कर देते हैं; अतः धर्म, वीर्य, प्रज्ञा, तेज और यश आदिका क्षय करनेवाले होनेसे ये अनर्थके ही कारण हैं। और आप जो दीर्घजीवन देना चाहते हैं उसके विषयमें भी सुनिये । ब्रह्माका जो सम्पूर्ण जीवन—आयु है वह भी अल्प ही है, फिर हम-जैसोंके दीर्घजीवनकी तो बात ही क्या है ? अतः आपके रथादि वाहन और नाच-गान आपके ही रहें ॥ २६ ॥



किं च—

इसके सिवा—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

मनुष्यको धनसे तृप्त नहीं किया जा सकता । अब यदि आपको देख लिया है तो धन तो हम पा ही लेंगे । जबतक आप शासन करेंगे हम जीवित रहेंगे; किन्तु हमारा प्रार्थनीय वर तो वही है ॥ २७ ॥

न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । न हि लोके वित्तलाभः कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः ।

मनुष्यको अधिक धनसे भी तृप्त नहीं किया जा सकता है । लोकमें धनकी प्राप्ति किसीको भी तृप्त करनेवाली नहीं देखी गयी ।

यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामहे प्राप्स्यामह इत्थं तद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम् । जीवितमपि तथैव । जीविष्यामो यावद्याम्ये पदे त्वम् ईशिष्यसीशिष्यसे प्रभुः स्याः कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत् । वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम् ॥२७॥

अब, जब कि हम आपको देख चुके हैं तो, यदि हमें धनकी लालसा होगी तो, उसे हम प्राप्त कर ही लेंगे। इसी प्रकार दीर्घजीवन भी पा लेंगे। जबतक आप याम्यपदपर शासन करेंगे तबतक हम भी जीवित रहेंगे। भला कोई भी मनुष्य आपके सम्पर्कमें आकर अल्पायु और अल्पधन कैसे रह सकता है? किन्तु वर तो वह जो आत्मविज्ञान है वही हमारा वरणीय है ॥ २७ ॥

यतश्च—

क्योंकि—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

कभी जराग्रस्त न होनेवाले अमरोंके समीप पहुँचकर नीचे पृथिवीपर रहनेवाला कौन जराग्रस्त विवेकी मनुष्य होगा जो केवल शारीरिक वर्णके रागसे प्राप्त होनेवाले [स्त्रीसम्भोग आदि] सुखोंको [अस्थिर रूपमें] देखता हुआ भी अति दीर्घ जीवनमें सुख मानेगा ? ॥ २८ ॥

अजीर्यतां वयोहानिमप्राप्नुवताममृतानां सकाशमुपेत्य उपगम्यात्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन्

वयोहानिरूप जीर्णताको प्राप्त न होनेवाले अमरों—देवताओंकी सन्निधिमें पहुँचकर उनसे प्राप्त होने योग्य अपने अन्य उत्कृष्ट प्रयोजनको—प्राप्तव्यको जानता—प्राप्त करता हुआ भी

उपलभमानः स्वयं तु जीर्यन्मर्त्यो जरामरणवान्कधःस्थः कुः पृथिवी अधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्थः सन् कथमेवमविवेकिभिः प्रार्थनीयं पुत्रवित्तहिरण्याद्यस्थिरं वृणीते ।

क्व तदास्थ इति वा पाठान्तरम् । अस्मिन्पक्षे चाक्षरयोजना । तेषु पुत्रादिष्वास्था आस्थितिः तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदास्थः । ततोऽधिकतरं पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापिपयिषुः क्व तदास्थो भवेन्न कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थी स्याद् इत्यर्थः । सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोकस्तस्मान्न पुत्रवित्तादिलोभैः प्रलोभ्योऽहम् । किं चाप्सरःप्रमुखान्वर्णरतिप्रमोदाननवस्थित-

जो स्वयं जीर्ण होनेवाला और मरणधर्मा है अर्थात् जरामरणशील है ऐसा कधःस्थ—'कु' पृथिवीको कहते हैं, वह अन्तरिक्षादि लोकोंकी अपेक्षा अधः—नीची [होनेके कारण 'कधः' कहलाती] है, उसपर जो स्थित होता है वह कधःस्थ कहा जाता है; ऐसा होकर भी—इस प्रकार अविवेकियोंद्वारा प्रार्थनीय पुत्र, धन और सुवर्ण आदि अस्थिर पदार्थोंको कैसे माँगेगा ?

कहीं 'क्वधःस्थः' के स्थानमें 'क्व तदास्थः' ऐसा भी पाठ है । इस पक्षमें अक्षरोंकी योजना इस प्रकार करनी चाहिये । उन पुत्रादिमें जिसकी आस्था—आस्थिति अर्थात् तत्परतापूर्वक प्रवृत्ति है वह 'तदास्थ' है । जो उनसे भी उत्कृष्टतर और दुष्प्राप्य पुरुषार्थको पानेका इच्छुक है वह पुरुष उनमें आस्था करनेवाला कैसे होगा ? अर्थात् उन्हें असार समझनेवाला कोई भी पुरुष उनका अर्थी (इच्छुक) नहीं हो सकता, क्योंकि सभी लोग उत्तरोत्तर उन्नत ही होना चाहते हैं; अतः मैं पुत्र-धन आदि लोभोंसे प्रलोभित नहीं किया जा सकता । तथा वर्णके रागसे प्राप्त होनेवाले अप्सरा आदि सुखोंकी अस्थिररूपमें भावना करता

रूपतयाभिध्यायन्निरूपयन्यथावत् अतिदीर्घे जीविते को विवेकी रमेत ॥ २८ ॥

हुआ; उन्हे यथावत् (मिथ्यारूपसे) समझता हुआ कौन विवेकी पुरुष अति दीर्घ जीवनमे प्रेम करेगा ? ॥२८॥



अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितम्—

अतः मुझे इन मिथ्या भोगोसे प्रलोभित करना छोड़कर जिसके लिये मैने प्रार्थना की है—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

हे मृत्यो ! जिस (परलोकगत जीव) के सम्बन्धमे लोग 'है या नहीं है' ऐसा सन्देह करते है तथा जो महान् परलोकके विषयमें [निश्चित विज्ञान] है वह हमसे कहिये। यह जो गहनतामें अनुप्रविष्ट हुआ वर है इससे अन्य और कोई वर नचिकेता नहीं माँगता ॥ २९ ॥

यस्मिन्प्रेत इदं विचिकित्सनं विचिकित्सन्ति अस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो साम्पराये परलोकविषये महति महत्प्रयोजननिमित्ते आत्मनो

हे मृत्यो ! जिस परलोकगत जीवके विषयमें ऐसा सन्देह करते है कि मरनेके अनन्तर 'रहता है या नहीं रहता' उस महान्—महान् प्रयोजनके निमित्तभूत साम्पराय—परलोकके सम्बन्धमें उस आत्माका जो निश्चित विज्ञान

निर्णयविज्ञानं यत्तद्ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम्। किं बहुना योऽयं प्रकृत आत्मविषयो वरो गूढं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टः तस्माद्वराद्न्यमविवेकिभिः प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसापीति श्रुतेर्वचनमिति ॥२९॥

है वह हमसे कहिये। अधिक क्या, यह जो आत्मविषयक प्रकृत वर है वह बड़ा ही गूढ़—गहन है और दुर्विवेचनीयताको प्राप्त हो रहा है। उस वरसे अन्य अविवेकी पुरुषोंद्वारा प्रार्थनीय कोई और अनित्य वस्तु-विषयक वर नचिकेता मनसे भी नहीं माँगता—यह श्रुतिका वचन है ॥२९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥



द्वितीया वल्ली

श्रेय-प्रेयविवेक

परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याह—

इस प्रकार शिष्यकी परीक्षा कर और उसमें विद्या-ग्रहणकी योग्यता जान यमराजने कहा—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

श्रेय (विद्या) और है तथा प्रेय (अविद्या) और ही है। वे दोनों विभिन्न प्रयोजनवाले होते हुए ही पुरुषको बाँधते हैं। उन दोनोंमेंसे श्रेयका ग्रहण करनेवालेका शुभ होता है और जो प्रेयका वरण करता है वह पुरुषार्थसे पतित हो जाता है ॥ १ ॥

अन्यत्पृथगेव श्रेयो निःश्रेयसं तथान्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि। ते प्रेयःश्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्ताभ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः। श्रेयःप्रेयसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी

श्रेय अर्थात् निःश्रेयस अन्यत्—भिन्न ही तथा प्रेय यानी प्रियतर वस्तु भी अन्य ही है। वे श्रेय और प्रेय दोनों विभिन्न प्रयोजनवाले होनेपर भी अधिकारी यानी वर्णाश्रमादिविशिष्ट पुरुषका बन्धन कर देते हैं; अर्थात् सब लोग उन्हींके द्वारा अपने [विद्या-अविद्यासम्बन्धी] कर्तव्यसे युक्त हो जाते हैं। अभ्युदयकी इच्छावाला पुरुष प्रेयसे और अमृतत्वका

पुरुषः प्रवर्तते । अतः श्रेयःप्रेयः-प्रयोजनकर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते सर्वः पुरुषः ।

इच्छुक श्रेयसे प्रवृत्त होता है । अतः श्रेय और प्रेय इन दोनोंके प्रयोजनोंकी कर्तव्यताके कारण सब लोग उनसे बद्ध कहे जाते हैं ।

ते यद्यप्येकैकपुरुषार्थसंबन्धिनी विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्धे इत्यन्यतरापरित्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात् तयोर्हित्वाविद्यारूपं प्रेयः श्रेय एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति । यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यतेऽस्मादर्थात् पुरुषार्थात् पारमार्थिकात्प्रयोजनान्नित्यात् प्रच्यवत इत्यर्थः । कोऽसौ य उ प्रेयो वृणीत उपादत्त इत्येतत् ॥ १ ॥

वे यद्यपि एक-एक पुरुषार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं तो भी विद्या और अविद्यारूप होनेके कारण परस्पर विरुद्ध हैं, अतः एकका परित्याग किये बिना एक पुरुषद्वारा उन दोनोंका साथ-साथ अनुष्ठान न हो सकनेके कारण उनमेंसे अविद्यारूप प्रेयको छोड़कर केवल श्रेयका ही स्वीकार करनेवालेका साधु—शुभ यानी कल्याण होता है । जो मूढ दूरदर्शी नहीं है वह इस अर्थ—पुरुषार्थ अर्थात् परमार्थसम्बन्धी नित्य प्रयोजनसे च्युत हो जाता है; वह कौन है ? वही जो प्रेयका वरण अर्थात् ग्रहण करता है—यह इसका तात्पर्य है ॥ १ ॥

यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवादत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते—

यदि श्रेय और प्रेय इन दोनोंहीका करना मनुष्यके स्वाधीन है तो लोग अधिकतासे प्रेयको ही क्यों स्वीकार करते हैं ? इसपर कहा जाता है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥

श्रेय और प्रेय [परस्पर मिले हुए-से होकर] मनुष्यके पास आते हैं । उन दोनोंको बुद्धिमान् पुरुष भली प्रकार विचारकर अलग-अलग करता है । विवेकी पुरुष प्रेयके सामने श्रेयका ही वरण करता है; किन्तु मूढ़ योग-क्षेमके निमित्तसे प्रेयका वरण करता है ॥ २ ॥

सत्यं स्वायत्ते तथापि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यमेतं पुरुषमा इतः प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च । अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयःप्रेयःपदार्थौ सम्परीत्य सम्यक्परिगम्य मनसालोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान् । विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एवाभिवृणीते प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वात् । कोऽसौ ? धीरः ।

वे मनुष्यके अधीन है— यह बात ठीक है । तथापि वे श्रेय और प्रेय मन्दबुद्धि पुरुषोंके लिये साधन और फलदृष्टिसे जिनका पार्थक्य करना बहुत कठिन है ऐसे होकर परस्पर मिले हुए-से ही मनुष्य यानी इस जीवको प्राप्त होते हैं । अतः हंस जिस प्रकार जलसे दूध अलग कर लेता है उसी प्रकार धीर—बुद्धिमान् पुरुष उन श्रेय और प्रेय पदार्थोंका भली प्रकार परिगमन कर—मनसे उनकी आलोचना कर उनके गौरव और लाघवका विवेक यानी पृथक्करण करता है । इस प्रकार श्रेयका विवेचन कर वह प्रेयकी अपेक्षा अधिक अभीष्ट होनेके कारण श्रेयका ही ग्रहण करता है । परन्तु ऐसा करता कौन है ? वही जो बुद्धिमान् है ।

यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः स विवेकासामर्थ्याद्योगक्षेमाद्योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयरक्षणनिमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते ॥ २ ॥

इसके विपरीत जो मन्द—अल्पबुद्धि है वह, विवेकशक्तिका अभाव होनेके कारण, जो योग-क्षेमका ही कारण है अर्थात् जो शरीरादिकी वृद्धि और रक्षाका ही निमित्त है उस पशु-पुत्रादिरूप प्रेयका ही वरण करता है ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

हे नचिकेतः ! उस तूने पुत्र-वित्तादि प्रिय और अप्सरा आदि प्रियरूप भोगोंको, उनका असारत्व चिन्तन करके, त्याग दिया है और जिसमें बहुत-से मनुष्य डूब जाते हैं उस इस धनप्राया निन्दित गतिको तू प्राप्त नहीं हुआ ॥ ३ ॥

स त्वं पुनःपुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान् पुत्रादीन् प्रियरूपांश्चाप्सरःप्रभृतिलक्षणान् कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषाम् अनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे नचिकेतोऽत्यस्राक्षीरतिसृष्टवान् परित्यक्तवानस्यहो बुद्धिमत्ता तव। नैतामवाप्तवानसि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां

हे नचिकेतः ! तेरी बुद्धिमत्ता धन्य है; जिस तूने कि मेरे द्वारा बारम्बार प्रलोभित किये जानेपर भी पुत्रादि प्रिय तथा अप्सरा आदि प्रियरूप भोगोंका, उनकी अनित्यता और असारता आदि दोषोंका विचार करके परित्याग कर दिया, और जिसमें मूढ़ पुरुष प्रवृत्त हुआ करते हैं उस वित्तमयी—धनप्राया निन्दित गतिको तू प्राप्त नहीं

वित्तमयीं धनप्रायाम्। यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा मनुष्याः ॥ ३ ॥

हुआ जिस मार्गमें कि बहुत-से मूढ़ पुरुष डूब जाते अर्थात् दुःख उठाते हैं ॥ ३ ॥

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीत इत्युक्तं तत्कस्माद्यतः—

'उनमेंसे श्रेयको ग्रहण करनेवालेका शुभ होता है और जो प्रेयका वरण करता है वह स्वार्थसे पतित हो जाता है' ऐसा जो ऊपर (इस वल्लीके प्रथम मन्त्रमें) कहा गया है, सो क्यों ? [इसपर यमराज कहते हैं,] क्योंकि—

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

जो विद्या और अविद्यारूपसे जानी गयी हैं वे दोनों अत्यन्त विरुद्ध स्वभाववाली और विपरीत फल देनेवाली हैं। मैं तुझ नचिकेताको विद्याभिलाषी मानता हूँ ? क्योंकि तुझे बहुत-से भोगोंने भी नहीं लुभाया ॥ ४ ॥

दूरं दूरेण महतान्तरेणैते विपरीते अन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेकात्मकत्वात्तमःप्रकाशाविव। विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत् ।

ये दोनों प्रकाश और अन्धकारके समान विवेक और अविवेकरूप होनेसे 'दूरम्' अर्थात् महान् अन्तरके साथ विपरीत हैं—आपसमें एक-दूसरेसे व्यावृत्तरूप हैं । और विषूची अर्थात् नाना गतिवाले हैं यानी संसार और मोक्षके कारण होनेसे विभिन्न फलयुक्त हैं ।

के ते इत्युच्यते। या चाविद्या प्रेयोविषया विद्येति च श्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञातावगता पण्डितैः। तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये। कस्माद्यस्मादविद्वद्बुद्धिप्रलोभिनः कामा अप्सरःप्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवाञ्छासंपादनेन। अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्य इत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

वे कौन हैं—इसपर कहते हैं—'जो कि पण्डितोंद्वारा प्रेयको विषय करनेवाली अविद्या तथा श्रेयोविषया विद्यारूपसे जानी गयी हैं।' उनमें तुझ नचिकेताको मैं विद्याभिलाषी अर्थात् विद्यार्थी मानता हूँ। क्यों मानता हूँ? क्योंकि अविवेकियोंकी बुद्धिको प्रलोभित करनेवाले अप्सरा आदि बहुत-से भोग भी तुम्हें लुभा नहीं सके—उन्होंने तेरे हृदयमें अपने भोगकी इच्छा उत्पन्न करके तुझे श्रेयोमार्गसे विचलित नहीं किया। अतः मैं तुझे विद्यार्थी यानी श्रेयका पात्र समझता हूँ—यह इसका अभिप्राय है ॥ ४ ॥

अविद्याग्रस्तोंकी दुर्दशा

ये तु संसारभाजनाः— | किन्तु जो संसारके पात्र हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥

वे अविद्याके भीतर रहनेवाले, अपने-आप बड़े बुद्धिमान् बने हुए और अपनेको पण्डित माननेवाले, मूढ पुरुष, अन्धेसे ही ले जाये जाते हुए अन्धेके समान अनेकों कुटिल गतियोंकी इच्छा करते हुए भटकते रहते हैं ॥ ५ ॥

अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्टयमानाः पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः । स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिलामनेकरूपां गतिम् इच्छन्तो जरामरणरोगादिदुःखैः परियन्ति परिगच्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत् ॥५॥

वे घनीभूत अन्धकारके समान अविद्याके भीतर स्थित हो पुत्र-पशु आदि सैकड़ों तृष्णापाशोंसे बँधे हुए [व्यवहारमें लगे रहते हैं] । जिस प्रकार अंधे यानी दृष्टिहीन पुरुषसे विषम मार्गमें ले जाये जाते हुए बहुत-से अंधे महान् अनर्थको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार 'हम बड़े धीर यानी बुद्धिमान् हैं और पण्डित अर्थात् शास्त्रकुशल हैं' इस प्रकार अपनेको माननेवाले वे मूढ—अविवेकी पुरुष नाना प्रकारकी अत्यन्त कुटिल गतियोंकी इच्छा करते हुए जरा, मरण और रोगादि दुःखोंसे सब ओर भटकते रहते हैं ॥ ५ ॥

अत एव मूढत्वात्—

अतएव मूढताके कारण—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

धनके मोहसे अंधे हुए और प्रमाद करनेवाले उस मूर्खको परलोकका साधन नहीं सूझता । यह लोक है, परलोक नहीं है—ऐसा माननेवाला पुरुष बारम्बार मेरे वशको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति । सम्पर ईयत इति सम्परायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः । स च बालमविवेकिनं प्रति न प्रतिभाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत् ।

उसे साम्पराय भासित नहीं होता । देहपातके अनन्तर जिसके प्रति गमन किया जाय उसे सम्पराय—परलोक कहते हैं । उसकी प्राप्ति ही जिसका प्रयोजन है वह शास्त्रीय साधनविशेष साम्पराय है । वह बाल अर्थात् अविवेकी पुरुषके प्रति प्रकाशित नहीं होता, अर्थात् वह उसके चित्तके सम्मुख उपस्थित नहीं होता ।

प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्तमोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाच्छन्नं सन्तम् । अयमेव लोको योऽयं दृश्यमानः स्त्र्यन्नपानादिविशिष्टो नास्ति परोऽदृष्टो लोक इत्येवं मननशीलो मानी पुनः पुनर्जनित्वा वशं मदधीनतामापद्यते मे मृत्योर्मम । जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः । प्रायेण ह्येवंविध एव लोकः ॥ ६ ॥

तथा जो प्रमाद करनेवाला है—जिसका चित्त पुत्र-पशु आदि प्रयोजनोंमें आसक्त है और जो धनके मोहसे अर्थात् धननिमित्तक अविवेकसे मूढ यानी अज्ञानसे आवृत है [उस मूढको परलोकका साधन नहीं सूझा करता] । 'यह जो स्त्री और अन्न-पानादिविशिष्ट दृश्यमान लोक है बस यही है, इससे अन्य और कोई [स्वर्गादि] लोक नहीं है' जो पुरुष इस प्रकार माननेवाला है वह बारम्बार जन्म लेकर मुझ मृत्युकी अधीनताको प्राप्त होता है । अर्थात् वह जन्म-मरणादिरूप दुःखपरम्परापर ही आरूढ रहता है । यह लोक प्रायः इसी प्रकारका है ॥ ६ ॥

आत्मज्ञानकी दुर्लभता

यस्तु श्रेयोऽर्थी सहस्रेषु कश्चिदेवात्मविद्भवति त्वद्विधो यस्मात्—

किन्तु जो तेरे समान श्रेयकी इच्छावाला है ऐसा तो हजारोंमें कोई ही आत्मवेत्ता होता है; क्योंकि—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

जो बहुतोंको तो सुननेके लिये भी प्राप्त होनेयोग्य नहीं है, जिसे बहुतसे सुनकर भी नहीं समझते उस आत्मतत्त्वका निरूपण करनेवाला भी आश्चर्यरूप है, उसको प्राप्त करनेवाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्यद्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है ॥ ७ ॥

श्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुम् अपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः श्रृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न विदन्त्यभागिनोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः । किं चास्य वक्तापि आश्चर्योऽद्भुतवदेवानेकेषु कश्चिद् एव भवति । तथा श्रुत्वाप्यस्य आत्मनः कुशलो निपुण एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति । यस्माद् आश्चर्यो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेन आचार्येणानुशिष्टः सन् ॥७॥

जो आत्मा बहुतोंको तो सुननेके लिये भी नहीं मिलता तथा दूसरे बहुतसे अभागी अशुद्धचित्त पुरुष जिस आत्मतत्त्वको सुनकर भी नहीं जान पाते। यही नहीं, इसका वक्ता भी आश्चर्य अर्थात् अद्भुत-सा ही है—वह भी अनेकोंमें कोई ही होता है। तथा सुनकर भी इस आत्माका लब्धा (ग्रहण करनेवाला) तो अनेकोंमें कोई निपुण पुरुष ही होता है; क्योंकि जिसे [आत्मदर्शनमें] कुशल आचार्यने उपदेश किया हो ऐसा इसका ज्ञाता भी आश्चर्यरूप ही है ॥ ७ ॥

कस्मात्— | क्योंकि—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

कई प्रकारसे कल्पित किया हुआ यह आत्मा साधारण बुद्धिवाले पुरुषद्वारा कहे जानेपर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता । अभेददर्शी आचार्यद्वारा उपदेश किये गये इस आत्मामें [अस्ति-नास्तिरूप] कोई गति नहीं है; क्योंकि यह सूक्ष्म परिमाणवालोंसे भी सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है ॥ ८ ॥

न हि नरेण मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृतबुद्धिना इत्येतदुक्त एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि न हि सुष्ठु सम्यग्विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यो यस्माद् बहुधास्ति नास्ति कर्ताकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः ।

यह आत्मा, जिसके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे हो, किसी अवर—हीन यानी साधारण बुद्धिवाले मनुष्यसे कहा जानेपर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता; क्योंकि इसका वादियोंद्वारा अस्ति-नास्ति, कर्ता-अकर्ता एवं शुद्ध-अशुद्ध—इस प्रकार अनेक तरहसे चिन्तन किया जाता है ।

कथं पुनः सुविज्ञेय इत्युच्यते—अनन्यप्रोक्तेऽनन्येन अपृथग्दर्शिना आचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त उक्त आत्मनि गतिरनेकधास्ति नास्तीत्यादिलक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन् आत्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वादात्मनः ।

विद्योपलब्धौ देशिकादेशस्य प्राधान्यम्

तो फिर यह किस प्रकार अच्छी तरह जाना जाता है ? इसपर कहते हैं—अनन्यप्रोक्त—अनन्य अर्थात् अपने प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुए अपृथग्दर्शी आचार्यद्वारा कहे हुए इस आत्मामें अस्ति-नास्तिरूप गति यानी चिन्ता नहीं है; क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण विकल्पोंकी गतिसे रहित है ।

अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन् आत्मनि प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते गतिः अत्रान्यावगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्य अभावात् । ज्ञानस्य ह्येषा परा निष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम् । अतोऽवगन्तव्याभावान्न गतिः अत्रावशिष्यते । संसारगतिर्वात्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरीयकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य ।

अथवा अनन्यप्रोक्त—अपने स्वरूपभूत अनन्य आत्माका गुरु-द्वारा उपदेश किये जानेपर अन्य ज्ञेय वस्तुका अभाव हो जानेके कारण उसमें कोई गति यानी अन्य अवगति (ज्ञान) नहीं रहती; क्योंकि आत्माके एकत्वका जो विज्ञान है यही ज्ञानकी परा निष्ठा है । अतः ज्ञेय वस्तुका अभाव हो जानेके कारण फिर यहाँ कोई और गति नहीं रहती । अथवा उस अनन्य अर्थात् स्वात्मभूत आत्मतत्त्वके उपदेश कर दिये जानेपर संसारकी गति नहीं रहती; क्योंकि उसके अनन्तर तुरत ही आत्मविज्ञानका फलरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है ।

अथवा प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाचार्येण प्रोक्त आत्मनि अगतिरनवबोधोऽपरिज्ञानम् अत्र नास्ति । भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तदस्म्यहमित्याचार्यस्येवेत्यर्थः ।

अथवा जिसका आगे वर्णन किया जायगा उस ब्रह्मात्मभूत आचार्यद्वारा उपदेश किये हुए इस आत्मतत्त्वमें फिर अगति—अनवबोध अर्थात् अपरिज्ञान नहीं रहता । अर्थात् आचार्यके समान उस श्रोताको भी यह आत्मविषयक ज्ञान हो ही जाता है कि 'वह (ब्रह्म) मैं हूँ' ।

एवं सुविज्ञेय आत्मा आगमवता आचार्येणानन्यतया प्रोक्तः । इतरथा ह्यणीयानणुप्रमाणादपि

इस प्रकार शास्त्रज्ञ आचार्य-द्वारा अभिन्नरूपसे कहा हुआ आत्मा सुविज्ञेय होता है । नहीं तो, यह अणुप्रमाण वस्तुओंसे भी अणु हो

सम्पद्यत आत्मा । अतर्क्यमतर्क्यः स्वबुद्ध्याभ्यूहेन केवलेन तर्केण । तर्क्यमाणेऽणुपरिमाणे केनचित् स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरम् अन्योऽभ्यूहति ततोऽप्यन्योऽणुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचिद्विद्यते ॥ ८ ॥

जाता है; अपनी बुद्धिसे निकाले हुए केवल तर्कद्वारा इसका ज्ञान नहीं हो सकता । यदि कोई पुरुष तर्क करके उस अणुपरिमाण आत्माको स्थापित भी करे तो दूसरा उससे भी अणु तथा तीसरा उससे भी अत्यन्त अणु स्थापित कर देगा; क्योंकि कुतर्ककी स्थिति कहीं भी नहीं है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

हे प्रियतम ! सम्यक् ज्ञानके लिये शुष्क तार्किकसे भिन्न शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा कही हुई यह बुद्धि, जिसे कि तू प्राप्त हुआ है, तर्कद्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है । अहा ! तू बड़ा ही सत्य धारणावाला है । हे नचिकेतः ! हमें तेरे समान प्रश्न करनेवाला प्राप्त हो ॥ ९ ॥

अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मनि उत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्यात्ममतिर्नैषा तर्केण स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रेणापनेया न प्रापणीयेत्यर्थः । नापनेतव्या वा न हातव्या

अतः अभेददर्शी आचार्यद्वारा उपदेश किये हुए आत्मामें उत्पन्न हुए जो यह शास्त्रप्रतिपाद्य आत्मविषयक मति है वह तर्कसे अर्थात् अपनी बुद्धिके ऊहापोहमात्रसे प्राप्त होने योग्य नहीं है । अथवा [यह समझो कि] यह आत्मबुद्धि तर्कशक्तिसे अपनेतव्य यानी छोड़ी

तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किञ्चिदेव कथयति । अत एव च येयमागमप्रभूता मतिरन्येनैवागमाभिज्ञेन आचार्येणैव तार्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम।

जाने योग्य नहीं है; क्योंकि तार्किक तो अध्यात्मशास्त्रसे अनभिज्ञ होता है, वह अपनी बुद्धिसे परिकल्पित चाहे जो कहता रहता है। अतः हे प्रेष्ठ—प्रियतम ! यह जो शास्त्रजनित आत्मबुद्धि है वह तो तार्किकसे भिन्न किसी शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा उपदेश की जानेपर ही सम्यक् ज्ञानकी कारण होती है।

का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्युच्यते—

अच्छा तो, तर्कसे प्राप्त न होने योग्य वह मति कौन-सी है ? इसपर कहते हैं—

यां त्वं मतिं मद्वरप्रदानेन आपः प्राप्तवानसि । सत्या अवितथविषया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिर्बतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये । त्वादृक्त्वत्तुल्यो नः अस्मभ्यं भूयाद्भवताद्भवत्वन्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा; कीदृग्यादृक्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

जिस मतिको तूने मेरे वरप्रदानसे प्राप्त किया है। जिस तेरी धृति सत्य अर्थात् यथार्थ पदार्थको विषय करनेवाली है वह तू सत्यधृति है । 'बत' इस अव्ययसे अनुकम्पा करते हुए यमराज आगे कहे जानेवाले विज्ञानकी स्तुतिके लिये नचिकेतासे कहते हैं—'हे नचिकेतः ! हमे तेरे समान प्रश्न करनेवाला और भी पुत्र अथवा शिष्य मिले । परन्तु वह हो कैसा ? जैसा कि तू प्रश्न करनेवाला है' ॥ ९ ॥

पुनरपि तुष्ट आह—

नचिकेतासे प्रसन्न हुए मृत्युने फिर भी कहा—

कर्मफलकी अनित्यता

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

मैं यह जानता हूँ कि कर्मफलरूप निधि अनित्य है; क्योंकि अनित्य साधनोंद्वारा वह नित्य [आत्मा] प्राप्त नहीं किया जा सकता । तब मेरेद्वारा नाचिकेत अग्निका चयन किया गया । उन अनित्य पदार्थोंसे ही मैं [आपेक्षिक] नित्य [याम्यपद] को प्राप्त हुआ हूँ ॥ १० ॥

जानाम्यहं शेवधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यत इति । असावनित्यमनित्य इति जानामि । न हि यस्मादनित्यैः अध्रुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते परमात्माख्यः शेवधिः । यस्त्वनित्यसुखात्मकः शेवधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते ।

हि यतस्ततस्तस्मान्मया जानतापि नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति नाचिकेतश्चितोऽग्निः अनित्यैर्द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्निर्निर्वर्तित

जिसके लिये निधि (खजाने) के समान प्रार्थना की जाती है वह कर्मफलरूप निधि ही 'शेवधि' है । यह अनित्य—सदा न रहनेवाली है—ऐसा मै जानता हूँ । क्योंकि इन अनित्य यानी अस्थिर साधनोंसे वह परमात्मा नामक नित्य—स्थिर निधि प्राप्त नहीं की जा सकती । जो निधि अनित्यसुखस्वरूप है वही अनित्य पदार्थोंसे प्राप्त होती है ।

क्योंकि ऐसा है इसलिये मैंने यह जान-बूझकर भी कि 'अनित्य साधनोंसे नित्यकी प्राप्ति नहीं होती' नाचिकेत अग्निका चयन किया था; अर्थात् पशु आदि अनित्य पदार्थोंसे स्वर्ग-सुखके साधनस्वरूप उस अग्नि

इत्यर्थः । तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि ॥ १० ॥

का सम्पादन किया था । उसीसे मैं अधिकारसम्पन्न होकर आपेक्षिक नित्य स्वर्ग नामक याम्यस्थानको प्राप्त हुआ हूँ ॥ १० ॥

नचिकेताके त्यागकी प्रशंसा

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

हे नचिकेत. ! तूने बुद्धिमान् होकर भोगोकी समाप्ति (अवधि), जगत्‌की प्रतिष्ठा, यज्ञफलके अनन्तत्व, अभयकी मर्यादा, स्तुत्य और महती (अणिमादि ऐश्वर्ययुक्त) विस्तीर्ण गति तथा प्रतिष्ठाको देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया है ॥ ११ ॥

त्वं तु कामस्याप्तिं समाप्तिम्, अत्रैवेहैव सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्माधिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मकत्वात्, क्रतोः फलं हैरण्यगर्भं पदमनन्त्यमानन्त्यम्, अभयस्य च पारं परां निष्ठाम्, स्तोमं

किन्तु हे नचिकेत ! तुमने तो धीर—धृतिमान् होकर कामनाओंकी प्राप्ति—समाप्तिको, क्योकि इस [हिरण्यगर्भ पद] मे ही सम्पूर्ण कामनाएँ समाप्त होती है, तथा सर्वात्मक होनेके कारण अध्यात्म, अधिभूत एव अधिदैवरूप जगत्‌की प्रतिष्ठा यानी आश्रयको, यज्ञके अनन्त्य—आनन्त्य अर्थात् अनन्त फल हिरण्यगर्भ पदको, अभयके पार अर्थात् परा निष्ठाको और स्तोम—

स्तुत्यं महदणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतं स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वात्स्तोममहत्, उरुगायं विस्तीर्णां गतिम्, प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्तमामपि दृष्ट्वा धृत्या धैर्येण धीरो धीमान्सन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः परमेव आकाङ्क्षन्नतिसृष्टवानसि सर्वम् एतत् संसारभोगजातम् । अहो बतानुत्तमगुणोऽसि ॥ ११ ॥

स्तुत्य तथा महत्—अणिमादि ऐश्वर्य आदिक अनेक गुणोंके सङ्घातसे युक्त, इस प्रकार जो स्तोम है और महत् भी है ऐसे सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण स्तोममहत् उरुगाय—विस्तीर्ण गतिको तथा प्रतिष्ठा—अपनी सर्वोत्तम स्थितिको देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया । अर्थात् एकमात्र परवस्तुकी ही इच्छा करते हुए इस सम्पूर्ण सांसारिक भोगसमूहका परित्याग कर दिया । अहो ! तुम बड़े ही उत्कृष्ट गुणसम्पन्न हो ! ॥ ११ ॥

यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानम्—

जिस आत्माको तुम जानना चाहते हो—

आत्मज्ञानका फल

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

उस कठिनतासे दीख पड़नेवाले, गूढ स्थानमें अनुप्रविष्ट, बुद्धिमें स्थित, गहन स्थानमें रहनेवाले, पुरातन देवको अध्यात्मयोगकी प्राप्तिद्वारा जानकर धीर (बुद्धिमान्) पुरुष हर्ष-शोकको त्याग देता है ॥ १२ ॥

तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनम् अस्येति दुर्दर्शोऽतिसूक्ष्मत्वात् गूढं गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्नमित्येतत्, गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात्, गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमेऽनेकानर्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम्। यत एवं गूढमनुप्रविष्टो गुहाहितश्चातो गह्वरेष्ठः; अतो दुर्दर्शः।

अति सूक्ष्म होनेके कारण दुर्दर्श—जिसका कठिनतासे दर्शन हो सके उसे दुर्दर्श कहते हैं, गूढ अर्थात् गहन स्थानमें अनुप्रविष्ट यानी शब्दादि प्राकृत विषयविकाररूप विज्ञानसे छिपे हुए, गुहा—बुद्धिमें उपलब्ध होनेके कारण उसीमें स्थित तथा गह्वरेष्ठ—गह्वर—विषम यानी अनेक अनर्थोंसे सङ्कुलित स्थानमें रहनेवाले [देवको जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोकको त्याग देता है]। क्योंकि आत्मा इस प्रकार गूढ स्थानमें अनुप्रविष्ट और बुद्धिमें स्थित है इसलिये वह गह्वरेष्ठ है तथा गह्वरेष्ठ होनेके कारण ही दुर्दर्श है।

तं पुराणं पुरातनमध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम् अध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयोः अभावाज्जहाति ॥ १२॥

उस पुराण यानी पुरातन देवको अध्यात्मयोगकी—चित्तको विषयोंसे हटाकर आत्मामें लगा देना अध्यात्मयोग है, उसकी प्राप्तिद्वारा जानकर धीर पुरुष अपने उत्कर्ष-अपकर्षका अभाव हो जानेके कारण हर्ष-शोकका परित्याग कर देता है ॥ १२ ॥

किं च—

इसके सिवा—

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा
विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर और उसका भली प्रकार ग्रहण कर धर्मी आत्माको देहादि संघातसे पृथक् करके इस सूक्ष्म आत्माको पाकर तथा इस मोदनीयकी उपलब्धि कर अति आनन्दित हो जाता है । मैं [तुझ] नचिकेताको खुले हुए ब्रह्मभवनवाला समझता हूँ [अर्थात् हे नचिकेतः ! मेरे विचारसे तेरे लिये मोक्षका द्वार खुला हुआ है] ॥१३॥

एतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाचार्यप्रसादात्सम्यगात्मभावेन परिगृह्योपादाय मर्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्योद्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादेः अणुं सूक्ष्ममेतमात्मानम् आप्य प्राप्य स मर्त्यो विद्वान्मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा । तदेतदेवंविधं ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं त्वां मन्य इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

इस आत्मतत्त्वको, जिसका कि अब मैं वर्णन करूँगा, उसे सुनकर—आचार्यकी कृपासे भली प्रकार आत्मभावसे ग्रहण कर मरणधर्मा मनुष्य इस धर्म्य—धर्मविशिष्ट आत्माको शरीरादिसे उद्यमन करके यानी पृथक् करके तथा इस अणु अर्थात् सूक्ष्म और मोदनीय—हर्षयोग्य आत्माको उपलब्ध कर वह मरणशील विद्वान् आनन्दित हो जाता है । इस प्रकारके तुझ नचिकेताके प्रति मैं ब्रह्मभवनको खुले द्वारवाला अर्थात् अभिमुख हुआ मानता हूँ । अभिप्राय यह कि मैं तुझे मोक्षके योग्य समझता हूँ ॥ १३ ॥

यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन्मां प्रति—

[नचिकेता बोला—] भगवन् ! यदि मैं योग्य हूँ और आप मुझपर प्रसन्न हैं तो—

सर्वातीतवस्तुविषयक प्रश्न

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

जो धर्मसे पृथक्, अधर्मसे पृथक् तथा इस कार्यकारणरूप प्रपञ्चसे भी पृथक् है और जो भूत एवं भविष्यत्से भी अन्य है—ऐसा आप जिसे देखते हैं वही मुझसे कहिये ॥ १४ ॥

अन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठानात्तत्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः । तथान्यत्र अधर्मात्तथान्यत्रास्मात्कृताकृतात् कृतं कार्यमकृतं कारणमस्मात् अन्यत्र । किं चान्यत्र भूताच्चातिक्रान्तात्कालाद्भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात्; कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः । यद् ईदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि तद्वद मह्यम् ॥ १४ ॥

जो धर्म यानी शास्त्रीय धर्मानुष्ठान, उसके फल तथा [कर्ता-कारण आदि] कारकोंसे अन्यत्र—पृथग्भूत है, तथा जो अधर्मसे भिन्न है और कृत—कार्य तथा अकृत—कारण इस प्रकार इस कार्य-कारण (स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च) से भी पृथक् है, यही नहीं भूत अर्थात् बीते हुए, भव्य—आगामी तथा वर्तमान कालसे भी अन्यत्र है; तात्पर्य यह है कि जो तीनों कालोंसे परिच्छिन्न नहीं है । ऐसी जिस सम्पूर्ण व्यवहार-विषयसे अतीत वस्तुको आप देखते हैं वह मुझसे कहिये ॥ १४ ॥

इत्येवं पृष्टवते मृत्युरुवाच पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्—

इस प्रकार पूछते हुए नचिकेतासे, पूछी हुई वस्तु तथा उसके अन्य विशेषणको बतलानेकी इच्छासे यमराजने कहा—

ओङ्कारोपदेश

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

सारे वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, समस्त तपोंको जिसकी प्राप्तिके साधक कहते हैं, जिसकी इच्छासे [मुमुक्षुजन] ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ । 'ॐ' यही वह पद है ॥ १५ ॥

सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनामनन्ति प्रतिपादयन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुम् इच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि ।

समस्त वेद जिस पद अर्थात् गमनीय स्थानका अविभागसे यानी एक रूपसे आमनन—प्रतिपादन करते हैं, समस्त तपोंको भी जिसके लिये कहते हैं अर्थात् वे जिस स्थानकी प्राप्तिके लिये हैं, जिसकी इच्छासे गुरुकुलवासरूप ब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्मप्राप्तिमें उपयोगी कोई और साधन करते हैं, उस पदको जिसे कि तू जानना चाहता है, मैं संक्षेपमें कहता हूँ ।

ओमित्येतत् । तदेतत्पदं यद्बुभुत्सितं त्वया । यदेतद् ओमित्योंशब्दवाच्यमोंशब्दप्रतीकं च ॥ १५ ॥

'ॐ' यही वह पद है । यह जो 'ॐ' है यानी जो ॐ शब्दका वाच्य और ॐ ही जिसका प्रतीक है वही वह पद है जिसे तू जानना चाहता है ॥ १५ ॥

अतः—

इसलिये—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है, इस अक्षरको ही जानकर जो जिसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है ॥ १६ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्ध्येवाक्षरं परं च । तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम्, एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वोपास्यब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तद्भवति । परं चेज्ज्ञातव्यमपरं चेत्प्राप्तव्यम् ॥१६॥

यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है और यह अक्षर ही पर ब्रह्म है । यह अक्षर उन दोनोंहीका प्रतीक है । इस अक्षरको ही 'यही उपास्य ब्रह्म है' ऐसा जानकर जो पर अथवा अपर जिस ब्रह्मकी इच्छा करता है उसे वही प्राप्त हो जाता है । यदि उसका उपास्य पर ब्रह्म हो तो वह केवल जाना जा सकता है और यदि अपर ब्रह्म हो तो प्राप्त किया जा सकता है ॥ १६ ॥

यत एवमतः—

क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये—

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही पर आलम्बन है। इस आलम्बनको जानकर पुरुष ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है ॥ १७ ॥

एतदालम्बनमेतद्ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्यतमम्। एतदालम्बनं परमपरं च परापरब्रह्मविषयत्वात्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते परस्मिन् ब्रह्मणि। परस्मिंश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः ॥१७॥

यह [ओंकाररूप] आलम्बन ब्रह्मप्राप्तिके [गायत्री आदि] सभी आलम्बनोंमें श्रेष्ठ यानी सबसे अधिक प्रशंसनीय है। पर और अपर ब्रह्मविषयक होनेसे यह आलम्बन पर और अपररूप है। तात्पर्य यह है कि इस आलम्बनको जानकर साधक ब्रह्मलोक अर्थात् परब्रह्ममें स्थित होकर महिमान्वित होता है तथा अपर ब्रह्ममें ब्रह्मत्वको प्राप्त होकर ब्रह्मके समान उपासनीय होता है ॥ १७ ॥

अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्यात्मनोऽशेषविशेषरहितस्य आलम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोङ्कारो निर्दिष्टः; अपरस्य च ब्रह्मणो मन्दमध्यमप्रतिपत्तॄन्प्रति। अथेदानीं तस्योङ्कारालम्बनस्यात्मनः साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिषया इदमुच्यते—

उपर्युक्त 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि श्लोकसे नचिकेताद्वारा पूछे गये सर्वविशेषरहित आत्माके तथा मन्द और मध्यम उपासकोंके लिये अपर ब्रह्मके प्रतीक और आलम्बनरूपसे ओंकारका निर्देश किया गया। अब, जिसका आलम्बन ओंकार है उस आत्माके स्वरूपका साक्षात् निर्धारण करनेकी इच्छासे यह कहा जाता है—

आत्मस्वरूपनिरूपण

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

यह विपश्चित्—मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है; यह न तो किसी अन्य कारणसे ही उत्पन्न हुआ है और न स्वतः ही कुछ [अर्थान्तररूपसे] बना है। यह अजन्मा, नित्य (सदासे वर्तमान), शाश्वत (सर्वदा रहनेवाला) और पुरातन है तथा शरीरके मारे जानेपर भी स्वयं नहीं मरता ॥ १८ ॥

न जायते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्य अनेकविक्रियाः तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहात्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति। विपश्चिन्मेधावी अविपरिलुप्तचैतन्यस्वभावात्।

यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता और न मरता ही है। उत्पन्न होनेवाली अनित्य वस्तुके अनेक विकार होते हैं। यहाँ—आत्मामें सब विकारोंका प्रतिषेध करनेके लिये 'न जायते म्रियते वा' ऐसा कहकर सबसे पहले उनमेंसे जन्म और विनाशरूप आदि और अन्तके विकारोंका निषेध किया जाता है। कभी लुप्त न होनेवाले चैतन्यरूप स्वभावके कारण आत्मा विपश्चित् यानी मेधावी है।

किं च नायमात्मा कुतश्चित् कारणान्तराद्बभूव। स्वस्माच्च आत्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। अतोऽयमात्माजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते; अयं

तथा यह आत्मा कहींसे अर्थात् किसी अन्य कारणसे उत्पन्न नहीं हुआ और न अर्थान्तररूपसे स्वयं अपनेसे ही हुआ है। इसलिये यह आत्मा अजन्मा, नित्य और शाश्वत यानी क्षयरहित है; क्योंकि जो अशाश्वत होता है वही क्षीण हुआ

तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुरापि नव एवेति । यो ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिः । तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः ।

करता है । यह तो शाश्वत है, इसलिये पुराण भी है यानी प्राचीन होकर भी नवीन ही है । क्योंकि जो पदार्थ अवयवोंके उपचय (वृद्धि) से निष्पन्न किया जाता है वही 'इस समय नया है' ऐसा कहा जाता है; जैसे घड़ा आदि । किन्तु आत्मा उससे विपरीत स्वभाववाला है; अर्थात् वह पुराण यानी वृद्धिरहित है ।

यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे । तत्स्थोऽप्याकाशवदेव ॥१८॥

क्योंकि ऐसा है; इसलिये शस्त्रादिद्वारा शरीरके मारे जानेपर भी वह नहीं मरता—उसकी हिंसा नहीं होती । अर्थात् शरीरमें रहकर भी वह आकाशके समान निर्लिप्त ही है ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳहन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

यदि मारनेवाला आत्माको मारनेका विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मारा हुआ समझता है तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते; क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

एवं भूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनम्

ऐसे प्रकारके आत्माको भी जो देहमात्रको ही आत्मा समझनेवाला किसीको मारनेवाला पुरुष यदि किसीको मारनेका विचार करता

इति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहम् इत्युभावपि तौ न विजानीतः स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव। अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य। श्रुतिप्रामाण्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥१९॥

है—यह सोचता है कि मैं इसे मारूँगा, तथा दूसरा मारा जानेवाला भी यह समझकर कि 'मैं मारा गया हूँ' अपने (आत्मा) को मारा गया मानता है तो वे दोनों ही अपने आत्माको नहीं जानते; क्योंकि आत्मा अविकारी है, इसलिये वह मार नहीं सकता और आकाशके समान अविकारी होनेसे ही मारा भी नहीं जा सकता। अतः धर्माधर्मादिरूप संसार अनात्मज्ञसे ही सम्बन्ध रखता है, ब्रह्मज्ञसे नहीं। क्योंकि श्रुतिप्रमाण और युक्तिसे भी ब्रह्मज्ञानीद्वारा धर्म-अधर्म आदि नहीं बन सकते ॥ १९ ॥

कथं पुनरात्मानं जानाति इत्युच्यते—

तो फिर मुमुक्षु पुरुष आत्माको किस रूपसे जानता है? इसपर कहते हैं—

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

यह अणुसे भी अणुतर और महान्‌से भी महत्तर आत्मा जीवकी हृदयरूप गुहामें स्थित है। निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियोंके प्रसादसे आत्माकी उस महिमाको देखता है और शोकरहित हो जाता है ॥ २० ॥

अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः। महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरःपृथिव्यादेः। अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवात्मना नित्येन आत्मवत्संभवति। तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्संपद्यते। तस्माद् असावेवात्माणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनामरूपवस्तूपाधिकत्वात्। स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः।

तमात्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्गमक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः। यदा चैवं तदा मनआदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां

आत्मा अणुसे भी अणुतर अर्थात् श्यामाक आदि सूक्ष्म पदार्थोंसे भी सूक्ष्मतर तथा महान्‌से भी महत्तर यानी पृथिवी आदि महत्परिमाणवाले पदार्थोंसे भी महत्तर है। संसारमें अणु अथवा महत्परिमाणवाली जो कुछ वस्तु है वह उस नित्यस्वरूप आत्मासे ही आत्मवान् (स्वरूप-सत्तायुक्त) हो सकती है। आत्मासे परित्यक्त हो जानेपर वह सत्ताशून्य हो जाती है। अतः यह आत्मा ही अणु-से-अणुतर और महान्-से-महत्तर है; क्योंकि नामरूपवाली सभी वस्तुएँ इसकी उपाधि हैं। वह आत्मा ही ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त इस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायकी गुहा—हृदयमें निहित है अर्थात् अन्तरात्म-रूपसे स्थित है।

देखना, सुनना, मनन करना और जानना—ये जिसके लिङ्ग हैं उस आत्माको अक्रतु—निष्काम पुरुष अर्थात् जिसकी बुद्धि दृष्ट और अदृष्ट बाह्य विषयोंसे उपरत हो गयी है; क्योंकि जिस समय ऐसी स्थिति होती है उसी समय मन आदि इन्द्रियाँ, जो कि शरीरको धारण करनेके कारण धातु कहलाती हैं, प्रसन्न होती हैं—सो,

प्रसादादात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यत्ययम् अहमस्मीति साक्षाद्विजानाति । ततो वीतशोको भवति ॥२०॥	इन धातुओंके प्रसादसे वह अपने आत्माकी कर्मनिमित्तक वृद्धि और क्षयसे रहित महिमाको देखता है; अर्थात् इस बातको साक्षात् जानता है कि 'मैं यह हूँ'। [ऐसा जानकर] फिर वह शोकरहित हो जाता है॥२०॥

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्मात्—	अन्यथा सकाम प्राकृत पुरुषोंके लिये यह आत्मा बड़ा दुर्विज्ञेय है; क्योंकि—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

वह स्थित हुआ भी दूरतक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है । मद (हर्ष) से युक्त और मदसे रहित उस देवको भला मेरे सिवा और कौन जान सकता है ? ॥ २१ ॥

आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन् दूरं व्रजति । शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ?	आसीन—अवस्थित अर्थात् अचल होकर भी वह दूर चला जाता है तथा शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है । इस प्रकार वह आत्मा—देव समद और अमद यानी हर्षसहित और हर्षरहित—विरुद्ध धर्मवाला है । अतः जाननेमें न आ सकनेके कारण उस मदयुक्त और मदरहित देवको मेरे सिवा और कौन जान सकता है ?

असदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य सुविज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यानित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधिकत्वाद्विरुद्धधर्मवत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते। अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति।

करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्य उपशमः शयानस्य भवति। यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञानत्वात् सर्वतो यातीव यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित एव सन्मनआदिगतिषु तदुपाधिकत्वाद्दूरं व्रजतीव। स चेहैव वर्तते ॥ २१ ॥

यह आत्मा हम-जैसे सूक्ष्मबुद्धि विद्वानोंके लिये ही सुविज्ञेय है। स्थिति-गति तथा नित्य और अनित्य आदि अनेक विरुद्धधर्मरूप उपाधिवाला तथा विपरीतधर्मयुक्त होनेसे यह चिन्तामणिके समान विश्वरूप-सा भासता है। अतः 'मेरे सिवा उसे और कौन जानने योग्य है' ऐसा कहकर उसकी दुर्विज्ञेयता दिखलाते हैं।

इन्द्रियोंका शान्त हो जाना शयन है। शयन करनेवाले पुरुषका इन्द्रियजनित एकदेशसम्बन्धी विज्ञान शान्त हो जाता है। जिस समय ऐसी अवस्था होती है उस समय केवल सामान्य विज्ञान होनेसे वह सब ओर जाता हुआ-सा जान पड़ता है; और जब वह विशेष विज्ञानमें स्थित होता है तो स्वरूपसे अविचल रहकर भी मन आदि उपाधियोंवाला होनेसे उन मन आदिकी गतियोंमें जाता हुआ-सा जान पड़ता है। वस्तुतः तो वह यहीं रहता है ॥ २१ ॥

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—

तथा अब यह भी दिखलाते हैं कि उस आत्माके ज्ञानसे शोकका अन्त हो जाता है—

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

जो शरीरोंमें शरीररहित तथा अनित्योंमें नित्यस्वरूप है उस महान् और सर्वव्यापक आत्माको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

अशरीरं स्वेन रूपेण आकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादिशरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत्, महान्तं महत्त्वस्यापेक्षिकत्वशङ्कायामाह— विभुं व्यापिनमात्मानम्—आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम्, आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्वा अयमहमिति धीरो धीमान्न शोचति । न ह्येवंविधस्यात्मविदः शोकोपपत्तिः ॥२२॥

आत्मा अपने स्वरूपसे आकाशके समान है, अतः देव, पितृ और मनुष्यादि शरीरोंमें अशरीर है, अनवस्थित—अवस्थितिरहित यानी अनित्योंमें अवस्थित—नित्य अर्थात् अविकारी है, तथा महान् है—[किससे महान् है—इस प्रकार] महत्त्वमें इतरकी अपेक्षा होनेकी शङ्का करके कहते हैं उस विभु अर्थात् व्यापक आत्माको जानकर यहाँ 'आत्मा' शब्द अपनेसे ब्रह्मकी अभिन्नता दिखानेके लिये लिया गया है, क्योंकि 'आत्मा' शब्द प्रत्यगात्मविषयमें ही मुख्य है—ऐसे उस आत्माको 'यही मैं हूँ' ऐसा जानकर धीर—बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता, क्योंकि इस प्रकारके आत्मवेत्तामें शोक बन ही नहीं सकता ॥ २२ ॥

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—

यद्यपि यह आत्मा दुर्विज्ञेय है तो भी उपाय करनेसे तो सुविज्ञेय ही है, इसपर कहते हैं—

आत्मा आत्मकृपासाध्य है

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम् ॥२३॥

यह आत्मा वेदाध्ययनद्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणाशक्ति अथवा अधिक श्रवणसे ही प्राप्त हो सकता है । यह [साधक] जिस [आत्मा] का वरण करता है उस [आत्मा] से ही यह प्राप्त किया जा सकता है । उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूपको अभिव्यक्त कर देता है ॥ २३ ॥

नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या । न बहुना श्रुतेन केवलेन । केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते—

यह आत्मा प्रवचन अर्थात् अनेकों वेदोंको स्वीकार करनेसे प्राप्त यानी विदित होने योग्य नहीं है, न मेधा यानी ग्रन्थार्थ-धारणकी शक्तिसे ही जाना जा सकता है और न केवल बहुत-सा श्रवण करनेसे ही । तो फिर किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इसपर कहते हैं—

यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत् । निष्कामस्यात्मानम् एव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः ।

यह साधक जिस आत्माका वरण—प्रार्थना करता है उस वरण करनेवाले आत्माद्वारा यह आत्मा स्वयं ही प्राप्त किया जाता है—अर्थात् उससे ही 'यह ऐसा है' इस प्रकार जाना जाता है । तात्पर्य यह कि केवल आत्म-लाभके लिये ही प्रार्थना करनेवाले निष्काम पुरुषको आत्माके द्वारा ही आत्माकी उपलब्धि होती है ।

कथं लभ्यत इत्युच्यते—तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यम् इत्यर्थः ॥२३॥

किस प्रकार उपलब्ध होता है, इसपर कहते हैं—उस आत्म-कामीके प्रति यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप अर्थात् अपने याथात्म्यको विवृत—प्रकाशित कर देता है ॥ २३ ॥

किं चान्यत्—

इसके सिवा दूसरी बात यह भी है—

आत्मज्ञानका अनधिकारी

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

जो पापकर्मोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है वह इसे आत्मज्ञानद्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है ॥ २४ ॥

न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्पापकर्मणोऽविरतः अनुपरतो नापीन्द्रियलौल्याद् अशान्तोऽनुपरतो नाप्यसमाहितोऽनेकाग्रमना विक्षिप्तचित्तः, समाहितचित्तोऽपि सन्समाधान-

जो दुश्चरित—प्रतिषिद्ध कर्म यानी श्रुति-स्मृतिसे अविहित पाप-कर्मसे अविरत—अनुपरत है वह नहीं, जो इन्द्रियोंकी चञ्चलताके कारण अशान्त यानी उपरतिशून्य है वह भी नहीं, जो असमाहित अर्थात् जिसका चित्त एकाग्र नहीं है—जो विक्षिप्तचित्त है वह भी नहीं, तथा समाहितचित्त होनेपर भी उस एकाग्रताके फलका इच्छुक

फलार्थित्वान्नाप्यशान्तमानसो व्यापृतचित्तः प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात् । यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तम् आत्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२४॥

होनेके कारण जो अशान्तचित्त है—जिसका चित्त निरन्तर व्यापार करता रहता है वह पुरुष भी इस प्रस्तुत आत्माको केवल आत्मज्ञान-द्वारा नहीं प्राप्त कर सकता। अर्थात् जो पापकर्म और इन्द्रियों-की चञ्चलतासे हटा हुआ तथा समाहितचित्त और उस समाधानके फलसे भी उपशान्तमना है वह आचार्यवान् साधक ही ब्रह्मज्ञान-द्वारा उपर्युक्त आत्माको प्राप्त कर सकता है ॥ २४ ॥

यस्त्वनेवंभूतः—

किन्तु जो (साधक) ऐसा नहीं है [उसके विषयमें श्रुति कहती है]—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

जिस आत्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों ओदन—भात हैं तथा मृत्यु जिसका उपसेचन (शाकादि) है वह जहाँ है उसे कौन [अज्ञ पुरुष] इस प्रकार (उपर्युक्त साधनसम्पन्न अधिकारीके समान) जान सकता है ? ॥ २५ ॥

यस्यात्मनो ब्रह्मक्षत्रे सर्वधर्मविधारके अपि सर्वत्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः स्याताम्,

सम्पूर्ण धर्मोंका धारण करनेवाले और सबके रक्षक होनेपर भी ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों वर्ण जिस आत्माके ओदन—भोजन हैं

सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनम् इवौदनस्य, अशनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन् क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः, वेद विजानाति यत्र स आत्मेति ॥ २५ ॥

तथा सबका हरण करनेवाला होनेपर भी मृत्यु जिसका भातके लिये उपसेचन (शाकादि) के समान है, अर्थात् भोजनके लिये भी पर्याप्त नहीं है, उस आत्माको, जहाँ कि वह है, ऐसा कौन पूर्वोक्त साधनोंसे रहित और साधारण बुद्धिवाला पुरुष है जो इस प्रकार—उपर्युक्त साधनसम्पन्न पुरुषके समान जान सके ? ॥२५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥



तृतीया वल्ली

प्राप्ता और प्राप्तव्य-भेदसे दो आत्मा

ऋतं पिबन्तावित्यस्या वल्ल्याः सम्बन्धः—

विद्याविद्ये नानाविरुद्धफले इत्युपन्यस्ते न तु सफले ते यथावन्निर्णीते; तन्निर्णयार्था रथरूपककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम्। एवं च प्राप्तृप्राप्यगन्तृगन्तव्यविवेकार्थं द्वावात्मानौ उपन्यस्येते—

इस 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि तृतीया वल्लीका सम्बन्ध इस प्रकार है—

ऊपर विद्या और अविद्या नाना प्रकारके विरुद्ध धर्मोंवाली बतलायी गयी हैं; किन्तु उनका फलसहित यथावत् निर्णय नहीं किया गया। उनका निर्णय करनेके लिये ही [इस वल्लीमें] रथके रूपककी कल्पना की गयी है। ऐसा करनेसे उन्हें [अर्थात् विद्या-अविद्याको] समझनेमें सुगमता हो जाती है। इसी प्रकार प्राप्त करनेवाले और प्राप्तव्य वस्तु तथा गमन करनेवाले और गन्तव्य लक्ष्यका विवेक करनेके लिये दो आत्माओंका उपन्यास करते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ १॥

ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि शरीरमें बुद्धिरूप गुहाके भीतर प्रकृष्ट ब्रह्मस्थानमें प्रविष्ट हुए अपने कर्मफलको भोगनेवाले छाया और घामके समान परस्पर विलक्षण दो [तत्त्व] हैं। यही बात जिन्होंने तीन बार नाचिकेताग्निका चयन किया है वे पञ्चाग्निकी उपासना करनेवाले भी कहते हैं॥ १॥

ऋतं सत्यमवश्यंभावित्वात् कर्मफलं पिबन्तौ, एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः; तथापि पातृसम्बन्धात्पिबन्तौ इत्युच्यते छत्रिन्यायेन, सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतम् इति पूर्वेण सम्बन्धः; लोकेऽस्मिन् शरीरे गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ, परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम्, परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्धम्। तस्मिन्हि परं ब्रह्मोपलभ्यते, अतस्तस्मिन्परमे परार्धे हार्दाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः।

ऋत अर्थात् अवश्यम्भावी होनेके कारण सत्य कर्मफलका पान करनेवाले दो आत्मा, जिनमेंसे केवल एक कर्मफलका पान—भोग करता है, दूसरा नहीं; तो भी पान करनेवालेसे सम्बन्ध होनेके कारण यहाँ छत्रिन्यायसे* दोनोंहीके लिये 'पिबन्तौ' इस द्विवचनका प्रयोग हुआ है, सुकृत अर्थात् अपने किये हुए कर्मके फलको भोगते हुए, यहाँ 'सुकृतस्य' शब्दका पूर्ववर्ती 'ऋतम्' शब्दके साथ सम्बन्ध है। लोक अर्थात् इस शरीरमें गुहा—बुद्धिके भीतर परम—बाह्य देहाश्रित आकाशस्थानकी अपेक्षा उत्कृष्ट परब्रह्मके अर्ध यानी स्थानमें प्रवेश किये हुए हैं; क्योंकि उसीमें परब्रह्मकी उपलब्धि होती है। अतः तात्पर्य यह है कि उस परम परार्ध यानी हृदयाकाशमें प्रवेश किये हुए हैं।

तौ च च्छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन

वे दोनों संसारी और असंसारी होनेके कारण छाया और धूपके

* जहाँ बहुत-से आदमी जा रहे हों और उनमेंसे किसी एकके पास छाता हो तो दूरसे देखनेवाला पुरुष उन्हें बतलानेके लिये 'देखो, वे छातेवाले लोग जा रहे हैं' ऐसे वाक्यका प्रयोग करता है। इस प्रकार एक छातेवालेसे सम्बद्ध होनेके कारण वह सारा समूह ही छातेवाला कहा जाता है। इसे 'छत्रिन्याय' कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ भोक्ता जीवके सम्बन्धसे ईश्वरको भी भोक्ता कहा गया है।

ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति। न केवलमकर्मिण एव वदन्ति। पञ्चाग्नयो गृहस्था ये च त्रिणाचिकेताः त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

समान परस्पर विलक्षण हैं—ऐसा ब्रह्मवेत्तालोग वर्णन करते—कहते हैं। [इस प्रकार] केवल अकर्मी ही ऐसा नहीं कहते बल्कि जो त्रिणाचिकेत हैं—जिन्होंने तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन किया है वे पञ्चाग्निकी उपासना करनेवाले गृहस्थ भी ऐसा ही कहते हैं ॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳशकेमहि ॥ २ ॥

जो यजन करनेवालोंके लिये सेतुके समान है उस नाचिकेत अग्निको तथा जो भयशून्य है और संसारको पार करनेकी इच्छावालोंका परम आश्रय है उस अक्षरब्रह्मको जाननेमें हम समर्थ हों ॥ २ ॥

यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंतरणार्थत्वान्नाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः। किं च यच्चाभयं भयशून्यं संसारपारं तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः। परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये

दुःखको पार करनेका साधन होनेसे जो नाचिकेत अग्नि यजमान अर्थात् कर्मियोंके लिये सेतुके समान होनेके कारण सेतु है उसे हम जानने और चयन करनेमें समर्थ हों। तथा जो भयरहित है, और संसारके पार जानेकी इच्छावाले ब्रह्मवेत्ताओंका परम आश्रय अविनाशी आत्मा नामक ब्रह्म है उसे भी हम जाननेमें समर्थ हो सकें। अर्थात् कर्मवेत्ताका आश्रय अपर ब्रह्म और ब्रह्मवेत्ताका आश्रय

वेदितव्ये इति वाक्यार्थः । एतयोरेव ह्युपन्यासः कृत ऋतं पिबन्ताविति ॥ २ ॥

परब्रह्म—ये दोनों ही ज्ञातव्य हैं—यह इस वाक्यका अर्थ है। 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि मन्त्रसे इन्हीं दोनों [ब्रह्मों] का उल्लेख किया गया है ॥ २ ॥

तत्र य उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते—

उनमें जो उपाधिपरिच्छिन्न संसारी मोक्ष एवं संसारके प्रति गमन करनेके लिये विद्या और अविद्याका अधिकारी है उसके लिये उन दोनोंके प्रति जानेके साधनस्वरूप रथकी कल्पना की जाती है—

शरीरादिसे सम्बद्ध रथादि रूपक

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

तू आत्माको रथी जान, शरीरको रथ समझ, बुद्धिको सारथि जान और मनको लगाम समझ ॥ ३ ॥

तत्र तमात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि। शरीरं रथमेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य। बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृ-

उनमें उस आत्माको—कर्मफल भोगनेवाले संसारीको रथी—रथका स्वामी जान, और शरीरको तो रथ ही समझ; क्योंकि शरीर रथमें बँधे हुए अश्वरूप इन्द्रियगणसे खींचा जाता है। तथा निश्चय करना ही जिसका लक्षण है उस बुद्धिको सारथि जान; क्योंकि सारथिरूप

प्रधानत्वाच्छरीरस्य सारथिनेतृप्रधान इव रथः । सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण । मनः संकल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि । मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः ॥ ३ ॥

नेता ही जिसमे प्रधान है उस रथके समान शरीर बुद्धिरूप नेताकी प्रधानतावाला है; क्योकि देहके सभी कार्य प्रायः बुद्धिके ही कर्तव्य हैं । और सङ्कल्प-विकल्पादिरूप मनको प्रग्रह—लगाम समझ; क्योंकि जिस प्रकार घोड़े लगामसे नियन्त्रित होकर चलते है उसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियाँ मनसे नियन्त्रित होकर ही अपने विषयोमे प्रवृत्त होती हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको घोड़े बतलाते है तथा उनके घोड़ेरूपसे कल्पित किये जानेपर विषयोको उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रिय एवं मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं ॥ ४ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयान् आहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात् । तेष्वेव इन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान्रूपादीन्विषयान् विद्धि । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः ।

रथकी कल्पना करनेमे कुशल पुरुषोने चक्षु आदि इन्द्रियोको घोडे बतलाया है, क्योकि [इन्द्रिय और घोड़ोकी क्रमशः] शरीर और रथको खींचनेमे समानता है । इस प्रकार उन इन्द्रियोको घोड़ेरूपसे परिकल्पित किये जानेपर रूपादि विषयोको उनके मार्ग जानो तथा शरीर, इन्द्रिय और मनके सहित अर्थात् उनसे युक्त आत्माको मनीषी—विवेकी पुरुष 'यह भोक्ता—संसारी है' ऐसा बतलाते हैं ।

न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम् । तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति—"ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७) इत्यादि । एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्यात्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात् ॥ ४ ॥

केवल (शुद्ध) आत्मा तो भोक्ता है नहीं, उसका भोक्तृत्व तो बुद्धि आदि उपाधिके कारण ही है । इसी प्रकार "ध्यान करता हुआ-सा, चेष्टा करता हुआ-सा" इत्यादि एक दूसरी श्रुति भी केवल आत्माका अभोक्तृत्व ही दिखलाती है । ऐसा होनेपर ही आगे कही जानेवाली रथकल्पनासे उस वैष्णवपदकी आत्मभावसे प्रतिपत्ति (प्राप्ति) बन सकती है—और किसी प्रकार नहीं; क्योंकि स्वभाव कभी नहीं बदल सकता ॥ ४ ॥

अविवेकीकी विवशता

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

किन्तु जो [बुद्धिरूप सारथि] सर्वदा अविवेकी एवं असंयत चित्तसे युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इसी प्रकार नहीं रहतीं जैसे सारथिके अधीन दुष्ट घोड़े ॥ ५ ॥

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेन

किन्तु ऐसा होनेपर भी जो बुद्धिरूप सारथि अविज्ञानवान्—अकुशल अर्थात् रथसञ्चालनमें अकुशल अन्य सारथिके समान [इन्द्रियरूप घोड़ोंकी] प्रवृत्ति-निवृत्तिके विवेकसे रहित है, जो

अप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति तस्याकुशलस्य बुद्धिसारथेः इन्द्रियाण्यश्वस्थानीयान्यवश्यानि अशक्यनिवारणानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति ॥ ५ ॥

सर्वदा प्रग्रह (लगाम) स्थानीय अयुक्त—अगृहीत अर्थात् विक्षिप्त चित्तसे युक्त है उस अनिपुण बुद्धिरूप सारथिके इन्द्रियरूप घोड़े [रथादि हाँकनेवाले] अन्य सारथिके दुष्ट अर्थात् बेकाबू घोड़ोंके समान अवश्य यानी जिनका निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे हो जाते हैं ॥ ५ ॥

विवेकीकी स्वाधीनता

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

परन्तु जो (बुद्धिरूप सारथि) कुशल और सर्वदा समाहित चित्तसे युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं जैसे सारथिके अधीन अच्छे घोड़े ॥ ६ ॥

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ॥ ६ ॥

किन्तु जो [बुद्धिरूप सारथि] पूर्वोक्त सारथिसे विपरीत विज्ञानवान् (कुशल)—मनको नियन्त्रित रखनेवाला अर्थात् संयतचित्त होता है उसके लिये अश्वस्थानीय इन्द्रियाँ प्रवृत्त और निवृत्त किये जानेमें इस प्रकार शक्य होती हैं जैसे सारथिके लिये अच्छे घोड़े ॥ ६ ॥

तस्य पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह—

उस पूर्वोक्त अविज्ञानवान् बुद्धिरूप सारथिवाले रथीके लिये श्रुति यह फल बतलाती है—

अविवेकीकी संसारप्राप्ति

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

किन्तु जो अविज्ञानवान्, अनिगृहीतचित्त और सदा अपवित्र रहनेवाला होता है वह उस पदको प्राप्त नहीं कर सकता, प्रत्युत संसारको ही प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवति अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः स तत एवाशुचिः सदैव, न स रथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदम् आप्नोति तेन सारथिना । न केवलं कैवल्यं नाप्नोति संसारं च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति ॥ ७ ॥

किन्तु जो अविज्ञानवान्, अमनस्क—असंयतचित्त और इसीलिये सदा अपवित्र रहनेवाला होता है उस सारथिके द्वारा वह [जीवरूप] रथी उस पूर्वोक्त अक्षर परम पदको प्राप्त नहीं कर सकता। वह कैवल्यको प्राप्त नहीं होता—केवल इतना ही नहीं, बल्कि जन्म-मरणरूप संसारको भी प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

विवेकीकी परमपद प्राप्ति

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥

किन्तु जो विज्ञानवान्, संयतचित्त और सदा पवित्र रहनेवाला होता है वह तो उस पदको प्राप्त कर लेता है जहाँसे वह फिर उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान् विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वान्

किन्तु जो दूसरा रथी अर्थात् विद्वान् विज्ञानवान्—कुशल सारथि-

इत्येतत्; युक्तमनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति, यस्मादाप्तात्पादाद् अप्रच्युतः सन्भूयः पुनर्न जायते संसारे ॥ ८ ॥

से युक्त, समनस्क—युक्तचित्त और इसीलिये सदा पवित्र रहनेवाला होता है वह तो उसी पदको प्राप्त कर लेता है, जिस प्राप्त हुए पदसे च्युत न होकर वह फिर संसारमें उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

किं तत्पदमित्याह—

वह पद क्या है? इसपर कहते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धि-सारथिसे युक्त और मनको वशमें रखनेवाला होता है वह संसारमार्गसे पार होकर उस विष्णु (व्यापक परमात्मा) के परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान्सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेव अधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः। तद्विष्णोः व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्यदसौ आप्नोति विद्वान् ॥ ९ ॥

जो पूर्वोक्त विद्वान् पुरुष विवेकयुक्त बुद्धि-सारथिसे युक्त मनोनिग्रहवान् यानी निगृहीतचित्त—एकाग्र मनवाला होता हुआ पवित्र है वह संसारगतिके पारको यानी अवश्यप्राप्तव्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है; अर्थात् सम्पूर्ण संसार-बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। उस विष्णु यानी वासुदेव नामक सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्माका जो परम—उत्कृष्ट पद—स्थान अर्थात् स्वरूप है उसे वह विद्वान् प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्य इन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतया अधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदम् आरभ्यते—

अब, जो प्राप्तव्य परम पद है उसका स्थूल इन्द्रियोंसे आरम्भ करके सूक्ष्मत्वके तारतम्य-क्रमसे प्रत्यगात्मस्वरूपसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, इसीलिये आगेका कथन आरम्भ किया जाता है—

इन्द्रियादिका तारतम्य

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ १०॥

इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन उत्कृष्ट है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) उत्कृष्ट है॥ १०॥

स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनाय आरब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च।

इन्द्रियाँ तो स्थूल हैं। वे जिन शब्द-स्पर्शादि विषयोंद्वारा अपनेको प्रकाशित करनेके लिये बनायी गयी हैं वे विषय अपने कार्यभूत इन्द्रिय-वर्गसे पर—सूक्ष्म, महान् एवं प्रत्यगात्मस्वरूप हैं।

तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः। मनःशब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मं संकल्पविकल्पाद्यारम्भकत्वात्। मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा

उन विषयोंसे भी पर—सूक्ष्म, महान् तथा नित्यस्वरूपभूत मन है, जो कि 'मन' शब्दका वाच्य और मनका आरम्भक भूतसूक्ष्म है; क्योंकि वही सङ्कल्प-विकल्पादिका आरम्भक है। मनसे भी पर—सूक्ष्मतर,

महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिः बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम् । बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्सर्वमहत्त्वात् । अव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥१०॥

महत्तर एवं प्रत्यगात्मभूत बुद्धि अर्थात् 'बुद्धि' शब्द-वाच्य अध्यवसायादिका आरम्भक भूतसूक्ष्म है । उस बुद्धिसे भी, सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धिका प्रत्यगात्मभूत होनेसे आत्मा महान् है; क्योंकि वह सबसे बड़ा है । अर्थात् अव्यक्तसे जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ हिरण्यगर्भ तत्त्व है, जो [ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण] बोधाबोधात्मक है वह महान् आत्मा बुद्धिसे भी पर है—ऐसा कहा जाता है ॥१०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूलप्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है । पुरुषसे पर और कुछ नहीं है । वही [सूक्ष्मत्वकी] पराकाष्ठा (हद) है, वही परा (उत्कृष्ट) गति है ॥ ११ ॥

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं च अव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतम् अव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपम् अव्यक्ताव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन

महत्से भी पर—सूक्ष्मतर, प्रत्यगात्मस्वरूप और सबसे महान् अव्यक्त है, जो सम्पूर्ण जगत्का बीजभूत, अव्यक्त नाम-रूपोंका सत्तास्वरूप, सम्पूर्ण कार्य-कारणशक्तिका सङ्घात, अव्यक्त, अव्याकृत और आकाशादि नामोंसे निर्दिष्ट होनेवाला तथा वटके धानेमें रहनेवाली

समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः ।

तस्माद्व्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च अत एव पुरुषः सर्वपूरणात् । ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह पुरुषान्न परं किंचिदिति । यस्मान्नास्ति पुरुषात् चिन्मात्रघनात् परं किंचिदपि वस्त्वन्तरं तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम् ।

अत्र हीन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः । अत एव च गन्तॄणां सर्वगतिमतां संसारिणां परा प्रकृष्टा गतिः "यद्गत्वा न निवर्तन्ते" (गीता ८ । २१; १५ । ६) इति स्मृतेः ॥ ११ ॥

वटवृक्षकी शक्तिके समान परमात्मामें ओतप्रोतभावसे आश्रित है ।

उस अव्यक्तकी अपेक्षा सम्पूर्ण कारणोंका कारण तथा प्रत्यगात्मरूप होनेसे पुरुष पर—सूक्ष्मतर एवं महान् है । इसीलिये वह सबमें पूरित रहनेके कारण 'पुरुष' कहा जाता है । इसके सिवा किसी दूसरे उत्कृष्टतरके प्रसङ्गका निवारण करते हुए कहते हैं कि पुरुषसे पर और कुछ नहीं है । क्योंकि चिद्घनमात्र पुरुषसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है इसलिये वही सूक्ष्मत्व, महत्त्व और प्रत्यगात्मत्वकी पराकाष्ठा—स्थिति अर्थात् पर्यवसान है ।

इन्द्रियोंसे लेकर इस आत्मामें ही सूक्ष्मत्वादिकी परिसमाप्ति होती है । अतः यही गमन करनेवाले अर्थात् सम्पूर्ण गतियोंवाले संसारियोंकी पर—उत्कृष्ट गति है, जैसा कि "जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते" इस स्मृतिसे सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

ननु गतिश्चेदागत्यापि भवितव्यम् । कथं यस्माद्भूयो न जायत इति ?

शङ्का—यदि [पुरुषके प्रति] गति है तो [वहाँसे] आगति (लौटना) भी होना चाहिये; फिर 'जिसके पाससे फिर जन्म नहीं लेता' ऐसा क्यों कहा जाता है ?

नैष दोषः, सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते । प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन । यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं गच्छन्त्यनात्मभूतं न विपर्ययेण तथा च श्रुतिः—"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इत्याद्या । तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य—

समाधान—यह दोष नहीं है; क्योंकि सबका प्रत्यगात्मा होनेसे आत्माके ज्ञानको ही उपचारसे गति कहा गया है । तथा इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे आत्माका परत्व प्रदर्शित कर उसका प्रत्यगात्मत्व दिखलाया गया है; क्योंकि जो जानेवाला है वह अपनेसे पृथक् अनात्मभूत एवं अप्राप्त स्थानकी ओर ही जाया करता है; इससे विपरीत अपनी ही ओर नहीं आता-जाता । इस विषयमें "संसारमार्गसे पार होनेकी इच्छावाले पुरुष मार्गरहित होते हैं" इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है । तथा आगेकी श्रुति भी पुरुषका सबका प्रत्यगात्मा होना प्रदर्शित करती है—

आत्मा सूक्ष्मबुद्धिग्राह्य है

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमान नहीं होता । यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंद्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्मबुद्धिसे ही देखा जाता है ॥ १२ ॥

एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्माविद्यामाया-

यह पुरुष ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंमें गूढ यानी छिपा हुआ, दर्शन, श्रवण आदि कर्म करनेवाला तथा अविद्या यानी

च्छन्नोऽत एवात्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित् । अहो अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादिसङ्घातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति । नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको बम्भ्रमीति । तथा च स्मरणम्—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गीता ७ । २५) इत्यादि ।

मायासे आच्छादित है । अतः सबका अन्तरात्मस्वरूप होनेके कारण आत्मा किसीके प्रति प्रकाशित नहीं होता । अहो ! यह माया बड़ी ही गम्भीर, दुर्गम और विचित्र है, जिससे कि ये संसारके सभी जीव वस्तुतः परमार्थस्वरूप होनेपर भी [शास्त्र और आचार्यद्वारा] वैसा बोध कराये जानेपर 'मैं परमात्मा हूँ' इस तत्त्वको ग्रहण नहीं करते; बल्कि जो देह और इन्द्रिय आदि सङ्घात घटादिके समान अपने दृश्य हैं उन्हें, किसीसे न कहनेपर भी 'मै इसका पुत्र हूँ' इत्यादि प्रकारसे आत्मभावसे ग्रहण करते हैं । निश्चय, उस परमात्माकी ही मायासे यह सारा जगत् अत्यन्त भ्रान्त हो रहा है । ऐसे ही "योगमायासे आवृत हुआ मैं सबके प्रति प्रकाशित नहीं होता" यह स्मृति भी है ।

ननु विरुद्धमिदमुच्यते "मत्वा धीरो न शोचति" (क० उ० २ । १ । ४) "न प्रकाशते" (क० उ० १ । ३ । १२) इति च ।

शङ्का—किन्तु "उसे जानकर पुरुष शोक नहीं करता" ["वह गूढ आत्मा] प्रकाशित (ज्ञात) नहीं होता" यह तो विपरीत ही कहा गया है ।

नैतदेवम् । असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम् ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है । आत्मा अशुद्धबुद्धि पुरुषके लिये अविज्ञेय है; इसीलिये यह कहा

दृश्यते तु संस्कृत्या अग्र्या अग्रमिवाग्र्या तया, एकाग्रतयोपेतयेत्येतत्, सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया;कैः?सूक्ष्मदर्शिभिः 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत् ॥ १२ ॥

गया है कि 'वह प्रकाशित नहीं होता'। वह तो संस्कारयुक्त और तीक्ष्ण—जो किसी पैनी नोकके समान सूक्ष्म हो ऐसी एकाग्रतासे युक्त और सूक्ष्म वस्तुके निरीक्षणमें लगी हुई तीव्र बुद्धिसे ही दिखलायी देता है। किन्हें दिखलायी देता है? [इसपर कहते हैं—] सूक्ष्मदर्शियोंको। 'इन्द्रियोंसे उनके विषय सूक्ष्म हैं' इत्यादि प्रकारसे सूक्ष्मताकी परम्पराका विचार करनेसे जिनका पर—सूक्ष्म वस्तुको देखनेका स्वभाव पड़ गया है, वे सूक्ष्मदर्शी हैं; उन सूक्ष्मदर्शी पण्डितोंको [वह दिखलायी देता है]—यह इसका भावार्थ है ॥ १२ ॥

लयचिन्तन

तत्प्रतिपत्त्युपायमाह—

अब उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हैं—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥

विवेकी पुरुष वाक्-इन्द्रियका मनमें उपसंहार करे, उसका प्रकाशस्वरूप बुद्धिमें लय करे, बुद्धिको महत्तत्त्वमें लीन करे और महत्तत्त्वको शान्त आत्मामें नियुक्त करे ॥ १३ ॥

यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो विवेकी; किम् ? वाग्वाचम् । वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम् । क्व ? मनसी मनसीतिच्छान्दसं दैर्घ्यम् । तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धौ आत्मनि । बुद्धिर्हि मनआदिकरणान्याप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक् तेषाम् । ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत् । प्रथमजवत् स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानम् आपादयेदित्यर्थः । तं च महान्तम् आत्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्य आत्मनि ॥ १३ ॥

विवेकी पुरुष 'यच्छेत्' अर्थात् नियुक्त करे—उपसहार करे, किसका उपसहार करे ? वाक् अर्थात् वाणीका । यहाँ वाक् सम्पूर्ण इन्द्रियोंका उपलक्षण करानेके लिये है । कहाँ उपसहार करे ? मनमे, 'मनसी' पदमें ह्रस्व इकारके स्थानमें दीर्घ प्रयोग छान्दस है । फिर उस मनको ज्ञान अर्थात् प्रकाशस्वरूप बुद्धि—आत्मामे लीन करे । बुद्धि ही मन आदि इन्द्रियोमे व्याप्त है, इसलिये वह उनका आत्मा—प्रत्यक्स्वरूप है । उस ज्ञानस्वरूप बुद्धिको प्रथम विकार महान् आत्मामे लीन करे अर्थात् प्रथम उत्पन्न हुए महत्तत्त्वके समान आत्माका स्वच्छस्वभाव विज्ञान प्राप्त करे । और महान् आत्माको जिसका स्वरूप सम्पूर्ण विशेषोंसे रहित है और जो अविक्रिय, सर्वान्तर तथा बुद्धिके सम्पूर्ण प्रत्ययोंका साक्षी है उस मुख्य आत्मामे लीन करे ॥ १३ ॥

एवं पुरुष आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानविजृम्भितं क्रियाकारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन

मृगतृष्णा, रज्जु और आकाशके स्वरूपका ज्ञान होनेसे जैसे मृगजल, रज्जु-सर्प और आकाश-मालिन्यका बाध हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्याज्ञानसे प्रतीत होनेवाले समस्त प्रपञ्च यानी नाम, रूप और कर्म

मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थम्—

इन तीनोंको, जो क्रिया, कारक और फलरूप ही हैं, स्वात्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञानद्वारा पुरुष अर्थात् आत्मामें लीन करके मनुष्य स्वस्थ, प्रशान्तचित्त एवं कृतकृत्य हो जाता है। क्योंकि ऐसा है, इसलिये उसका साक्षात्कार करनेके लिये—

उद्बोधन

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

[अरे अविद्याग्रस्त लोगो !] उठो, [अज्ञान-निद्रासे] जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरेकी धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्गको वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं ॥ १४ ॥

अनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत ! हे जन्तव आत्मज्ञानाभिमुखा भवत; जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत।

अरे अनादि अविद्यासे सोये हुए जीवो ! उठो, आत्मज्ञानके अभिमुख होओ तथा घोररूप अज्ञान-निद्रासे जागो—सम्पूर्ण अनर्थोंकी बीजभूत उस अज्ञान-निद्राका क्षय करो।

कथम् ? प्राप्योपगम्य वरान् प्रकृष्टानाचार्यांस्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोधतावगच्छत। न ह्युपेक्षित-

किस प्रकार [क्षय करें] ? श्रेष्ठ—उत्कृष्ट आत्मज्ञानी आचार्योंके पास जाकर—उनके समीप पहुँचकर उनके उपदेश किये हुए सर्वान्तर्यामी आत्माको 'मैं यही हूँ' ऐसा जानो। उसकी उपेक्षा नहीं

व्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाह मातृवत्! अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य। किमिव सूक्ष्मबुद्धिः इत्युच्यते; क्षुरस्य धाराग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्या सा दुरत्यया। यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसंपाद्यमित्येतत् पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति। ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

करनी चाहिये—ऐसा माताके समान कृपा करके श्रुति कह रही है; क्योंकि वह ज्ञेय पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिका ही विषय है। सूक्ष्म बुद्धि कैसी होती है? इसपर कहते हैं—निशित अर्थात् पैनायी हुई छुरेकी धार—अग्रभाग जिस प्रकार दुरत्यय होती है—जिसे कठिनतासे पार किया जा सके उसे दुरत्यय कहते हैं। जिस प्रकार उसपर पैरोंसे चलना अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार यह आत्मज्ञानका मार्ग बड़ा दुर्गम अर्थात् दुष्प्राप्य है—ऐसा कवि—मेधावी पुरुष कहते हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञेय अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण मनीषिजन उससे सम्बद्ध ज्ञानमार्गको दुष्प्राप्य बतलाते हैं ॥१४॥

तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्य इत्युच्यते; स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता तथा शरीरम्। तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्मत्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वा-

उस ज्ञेयकी अत्यन्त सूक्ष्मता किस प्रकार है? इसपर कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—[इन पाँचों विषयों] से वृद्धिको प्राप्त हुई तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी विषयभूत यह पृथिवी स्थूल है; ऐसा ही शरीर भी है। उनमें गन्धादि गुणोंमेंसे एक-एकका अपकर्ष—क्षय होनेसे जलसे लेकर

दितारतम्यं दृष्टमबादिषु यावदाकाशमिति ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वाद्विकाराः शब्दान्ता यत्र न सन्ति किमु तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यम् इत्येतद्दर्शयति श्रुतिः—

आकाशपर्यन्त चार भूतोंमें सूक्ष्मत्व, महत्त्व, विशुद्धत्व और नित्यत्व आदिका तारतम्य देखा गया है। किन्तु स्थूल होनेके कारण जहाँ गन्धसे लेकर शब्दपर्यन्त ये सारे विकार नहीं हैं उसके सूक्ष्मत्वादिकी निरतिशयताके विषयमें क्या कहा जाय ? यही बात आगेकी श्रुति दिखलाती है—

निर्विशेष आत्मज्ञानसे अमृतत्वप्राप्ति

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा रसहीन, नित्य और गन्धरहित है; जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्वसे भी पर और ध्रुव (निश्चल) है उस आत्मतत्त्वको जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है ॥ १५ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् एतद्व्याख्यातं ब्रह्माव्ययम्—यद्धि शब्दादिमत्तद्व्येतीदं तु अशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव च नित्यं यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा अरस, नित्य और अगन्धयुक्त है—ऐसी जिसकी व्याख्या की जाती है वह ब्रह्म अविनाशी है; क्योंकि जो पदार्थ शब्दादियुक्त होता है उसीका व्यय होता है, किन्तु यह ब्रह्म तो अशब्दादियुक्त होनेके कारण अव्यय है; इसका व्यय—क्षय नहीं होता,

व्येत्यतो नित्यम् । इतश्च नित्यम् अनाद्यविद्यमान आदिः कारणम् अस्य तदिदमनादि । यद्ध्यादिमत्तत्कार्यत्वादनित्यं कारणे प्रलीयते यथा पृथिव्यादि । इदं तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्यत्वान्नित्यं न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयेत ।

इसीलिये यह नित्य भी है; क्योंकि जिसका व्यय होता है वह अनित्य है । इसका व्यय नहीं होता इसलिये यह नित्य है । यह अनादि अर्थात् जिसका आदि—कारण विद्यमान नहीं है ऐसा होनेसे भी नित्य है; क्योंकि जो पदार्थ आदिमान् होता है वह कार्यरूप होनेसे अनित्य होता है और अपने कारणमें लीन हो जाता है; जैसे कि पृथिवी आदि । किन्तु यह आत्मा तो सबका कारण होनेसे अकार्य है और अकार्य होनेके कारण नित्य है । इसका कोई कारण नहीं है, जिसमें कि यह लीन हो ।

तथानन्तम् अविद्यमानोऽन्तः-कार्यमस्य तदनन्तम् । यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेन अपि अनित्यत्वं दृष्टं न च तथाप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणः; अतोऽपि नित्यम् ।

इसी प्रकार यह आत्मा अनन्त भी है । जिसका अन्त अर्थात् कार्य अविद्यमान हो उसे अनन्त कहते हैं । जिस प्रकार फलादि कार्य उत्पन्न करनेसे भी कदली आदि पौधोंकी अनित्यता देखी गयी है उस प्रकार ब्रह्मका अन्तवत्त्व नहीं देखा गया । इसलिये भी वह नित्य है ।

महतो महत्तत्त्वाद्बुद्ध्याख्यात्परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि हि सर्वभूतात्मत्वाद् ब्रह्म । उक्तं हि "एष सर्वेषु भूतेषु" (क० उ० १ । ३ । १२)

नित्यविज्ञप्तिस्वरूप होनेके कारण बुद्धिसंज्ञक महत्तत्त्वसे भी पर अर्थात् विलक्षण है; क्योंकि ब्रह्म सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा होनेके कारण सबका साक्षी है । यह बात उपर्युक्त "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते" इत्यादि मन्त्रमें कही ही

इत्यादि । ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम् । तदेवंभूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते विमुच्यते१५

गयी है । इसी प्रकार वह ध्रुव—कूटस्थ नित्य है । उसकी नित्यता पृथिवी आदिके समान आपेक्षिक नहीं है । उस इस प्रकारके ब्रह्म—आत्माको जानकर पुरुष मृत्युमुखसे—अविद्या, काम और कर्मरूप मृत्युके पंजेसे मुक्त—वियुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः—

अब प्रस्तुत विज्ञानकी स्तुतिके लिये श्रुति कहती है—

प्रस्तुत विज्ञानकी महिमा

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

नचिकेताद्वारा प्राप्त तथा मृत्युके कहे हुए इस सनातन विज्ञानको कह और सुनकर बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है ॥ १६ ॥

नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतं मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तमिदमाख्यानमुपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरन्तनं वैदिकत्वादुक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वाचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

नचिकेताद्वारा प्राप्त किये तथा मृत्युके कहे हुए इस तीन वल्लियोंवाले उपाख्यानको, जो वैदिक होनेके कारण सनातन—चिरन्तन है, ब्राह्मणसे कहकर तथा आचार्योंसे सुनकर मेधावी पुरुष ब्रह्मलोकमें—ब्रह्म ही लोक है; उसमें महिमान्वित होता है अर्थात् सबका आत्मस्वरूप होकर उपासनीय होता है ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

जो पुरुष इस परम गुह्य ग्रन्थको पवित्रतापूर्वक ब्राह्मणोंकी सभामें अथवा श्राद्धकालमें सुनाता है उसका वह श्राद्ध अनन्त फलवाला होता है, अनन्त फलवाला होता है ॥ १७ ॥

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद् ग्रन्थतोऽर्थतश्च ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेद् भुञ्जानानां तच्छ्राद्धमस्यानन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते । द्विर्वचनम् अध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १७ ॥

जो कोई पुरुष इस परम—प्रकृष्ट और गुह्य—गोपनीय ग्रन्थको पवित्र होकर ब्राह्मणोंकी सभामें अथवा श्राद्धकालमें—भोजन करनेके लिये बैठे हुए ब्राह्मणोंके प्रति केवल पाठमात्र या अर्थ करते हुए सुनाता है उसका वह श्राद्ध अनन्त फलवाला होता है । यहाँ अध्यायकी समाप्तिके लिये 'तदानन्त्याय कल्पते' यह वाक्य दो बार कहा गया है ॥ १७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

इति कठोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥



द्वितीय अध्याय

प्रथमा वल्ली

आत्मदर्शनका विघ्न—इन्द्रियोंकी बहिर्मुखता

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्येत्युक्तम्। कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्रयाया बुद्धेर्येन तदभावात् आत्मा न दृश्यत इति तददर्शनकारणप्रदर्शनार्था वल्ल्यारभ्यते। विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति—

'सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ वह आत्मा प्रकाशित नहीं होता; वह तो एकाग्र बुद्धिसे ही देखा जाता है' ऐसा पहले (१।३।१२ में) कहा था। अब प्रश्न होता है कि एकाग्र बुद्धिका ऐसा कौन प्रतिबन्ध है जिससे कि उस (एकाग्र बुद्धि) का अभाव होनेपर आत्मा दिखायी नहीं देता? अतः आत्मदर्शनके प्रतिबन्धका कारण दिखलानेके लिये यह वल्ली आरम्भ की जाती है; क्योंकि श्रेयके प्रतिबन्धका कारण जान लेनेपर ही उसकी निवृत्तिके यत्नका आरम्भ किया जा सकता है, अन्यथा नहीं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। इसीसे जीव बाह्य विषयोंको देखता है, अन्तरात्माको नहीं। जिसने अमरत्वकी इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियोंको रोक लिया है ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्माको देख पाता है ॥ १ ॥

पराञ्चि पराग्श्चन्ति गच्छन्तीति खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते। तानि पराञ्च्येव शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते। यस्मादेवं स्वाभाविकानि तानि व्यतृणद्धिंसितवान्हननं कृतवान् इत्यर्थः। कोऽसौ? स्वयंभूः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र इति। तस्मात्पराङ् पराग्रूपाननात्मभूताञ्शब्दादीन्पश्यत्युपलभत उपलब्धा, नान्तरात्मन्नान्तरात्मानमित्यर्थः।

जो पराक् अर्थात् बाहरकी ओर अञ्चन करती—गमन करती हैं उन्हें 'पराञ्चि' (बाहर जानेवाली) कहते हैं। 'ख' छिद्रोंको कहते हैं, उनसे उपलक्षित श्रोत्रादि इन्द्रियाँ 'खानि'* नामसे कही गयी हैं। वे बहिर्मुख होकर ही शब्दादि विषयोंको प्रकाशित करनेके लिये प्रवृत्त हुआ करती हैं। क्योंकि वे ऐसी हैं इसलिये स्वभावसे ही उन्हें हिंसित कर दिया है——उनका हनन कर दिया है। वह [हनन करनेवाला] कौन है? स्वयम्भू—परमेश्वर अर्थात् जो स्वतः ही सर्वदा स्वतन्त्र रहता है—परतन्त्र नहीं रहता। इसलिये वह उपलब्धा सर्वदा पराक् अर्थात् बहिःस्वरूप अनात्मभूत शब्दादि विषयोंको ही देखता—उपलब्ध करता है, 'नान्तरात्मन्' अर्थात् अन्तरात्माको नहीं।

एवंस्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिस्रोतःप्रवर्तनमिव धीरो धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं

यद्यपि लोकका ऐसा ही स्वभाव है तो भी कोई धीर—बुद्धिमान्—विवेकी पुरुष ही नदीको उसके प्रवाहके विपरीत दिशामें फेर देनेके समान [इन्द्रियोंको विषयोंकी

* नपुंसक 'ख' शब्दका प्रथमा-बहुवचन।

प्रत्यक्चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा। प्रतीच्येवात्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन्। व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवात्मशब्दो वर्तते।

"यच्चाप्नोति यदादत्ते
यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भाव-
स्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥"

(लिङ्ग० १। ७०। ९६)

इत्यात्मशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात्। तं प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावमैक्षदपश्यत्पश्यतीत्यर्थः, छन्दसि कालानियमात्। कथं पश्यतीत्युच्यते। आवृत्तचक्षुरावृत्तं व्यावृत्तं चक्षुः श्रोत्रादिकमिन्द्रियजातम् अशेषविषयाद्यस्य स आवृत्तचक्षुः स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति। न हि बाह्यविषया-

ओरसे हटाकर] उस अपने प्रत्यगात्माको [देखता है]। जो प्रत्यक् (सम्पूर्ण विषयोंको जाननेवाला) हो और आत्मा भी हो उसे प्रत्यगात्मा कहते हैं। लोकमें आत्मा शब्द 'प्रत्यक्' के अर्थमें ही रूढ़ है, और किसी अर्थमें नहीं। व्युत्पत्तिपक्षमें भी 'आत्मा' शब्दकी प्रवृत्ति उसी (प्रत्यक्-अर्थ ही) में है जैसा कि "क्योंकि यह सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है और इस लोकमें विषयोंको भोगता है तथा इसका सर्वदा सद्भाव है इसलिये यह 'आत्मा' कहलाता है।" इस प्रकार आत्मा शब्दकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें स्मृति है।

उस प्रत्यगात्माको अर्थात् अपने स्वरूपको 'ऐक्षत्'—देखा यानी देखता है। वैदिक प्रयोगमें कालका नियम न होनेके कारण यहाँ वर्तमान कालके अर्थमें भूतकालकी क्रिया [ऐक्षत्] का प्रयोग हुआ है। वह किस प्रकार देखता है? इसपर कहते हैं—'आवृत्तचक्षुः' अर्थात् जिसने अपनी चक्षु और श्रोत्रादि इन्द्रियसमूहको सम्पूर्ण विषयोंसे व्यावृत्त कर लिया है—लौटा लिया है, वह इस प्रकार संस्कारयुक्त हुआ पुरुष ही उस प्रत्यगात्माको देख पाता है। एक

लोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति । किमर्थं पुनरित्थं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यति इत्युच्यते; अमृतत्वममरण-धर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन् आत्मन इत्यर्थः ॥ १ ॥

ही पुरुषके लिये बाह्य विषयोंकी आलोचनामें तत्पर रहना तथा प्रत्यगात्माका साक्षात्कार करना—ये दोनों बातें सम्भव नहीं हैं। 'अच्छा, तो, इस प्रकार महान् परिश्रमसे [इन्द्रियोंकी] स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोककर धीर पुरुष प्रत्यगात्माको क्यों देखता है ?' ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'अमृतत्व—अमरणधर्मत्व अर्थात् आत्माकी नित्यस्वभावताकी इच्छा करता हुआ [उसे देखता है]' ॥ १ ॥

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेव अनात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धकारणमविद्या तत्प्रति-कूलत्वात् । या च पराक्ष्वेवा-विद्योपप्रदर्शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्या-तृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः—

जो स्वभावसे ही बाह्य अनात्म-दर्शन है वही आत्मदर्शनके प्रतिबन्धकी कारणरूपा अविद्या है; क्योंकि वह उस (आत्मदर्शन) के प्रतिकूल है । इसके सिवा अविद्यासे दिखलायी देनेवाले दृष्ट और अदृष्ट बाह्य भोगोंमे जो तृष्णा है उन अविद्या और तृष्णा दोनोंहीसे जिनका आत्मदर्शन प्रतिबद्ध हो रहा है वे—

अविवेकी और विवेकीका अन्तर

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥

अल्पज्ञ पुरुष बाह्यभोगोंके पीछे लगे रहते हैं। वे मृत्युके सर्वत्र फैले हुए पाशमें पड़ते हैं। किन्तु विवेकी पुरुष अमरत्वको ध्रुव (निश्चल) जानकर संसारके अनित्य पदार्थोंमेंसे किसीकी इच्छा नहीं करते ॥ २ ॥

पराचो बहिर्गतानेव कामान् काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति बाला अल्पप्रज्ञास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यते बध्यते येन तं पाशं देहेन्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणम्। अनवरतजन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः।

यत एवमथ तस्माद्धीरा विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणममृतत्वं ध्रुवं विदित्वा, देवाद्यमृतत्वं ह्यध्रुवमिदं तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" (बृ० उ० ४। ४। २३) इति ध्रुवम्। तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वाध्रुवेषु सर्वपदार्थेष्वनित्येषु निर्धार्य

बाल—मन्दमति पुरुष पराक् बाह्य कामनाओंका—काम्य विषयोंका ही अनुगमन—पीछा किया करते हैं। इसी कारणसे वे अविद्या, काम और कर्मके समुदायरूप मृत्युके वितत—विस्तीर्ण—सर्वत्र व्याप्त पाशमें [पड़ते हैं]। जिससे जीव पाशित होता है—बाँधा जाता है उस देहेन्द्रियादिके संयोग-वियोगरूप पाशमें पड़ते हैं। अर्थात् निरन्तर जन्म-मरण, जरा और रोग आदि बहुत-से अनर्थसमूहको प्राप्त होते हैं।

क्योंकि ऐसी बात है इसलिये धीर—विवेकी पुरुष प्रत्यगात्म-स्वरूपमें स्थितिरूप अमृतत्वको ध्रुव (निश्चल) जानकर—देवता आदिका अमृतत्व तो अध्रुव है किन्तु यह प्रत्यगात्मस्वरूपमें स्थिति-रूप अमृतत्व "यह कर्मसे न बढ़ता है न घटता है" इस उक्तिके अनुसार ध्रुव है—इस प्रकारके अमृतत्वको कूटस्थ और अविचाल्य जानकर वे ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) लोग इस अनर्थप्राय संसारके सम्पूर्ण

ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किंचिदपि प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात् । पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यर्थः ॥ २ ॥

अध्रुव—अनित्य पदार्थोंमेंसे किसीकी इच्छा नहीं करते; क्योंकि वे सब तो प्रत्यगात्माके दर्शनके विरोधी ही हैं । अर्थात् वे पुत्र, वित्त और लोकैषणासे दूर ही रहते हैं ॥ २ ॥

यद्विज्ञानान्न किंचिदन्यत् प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तदधिगम इत्युच्यते—

ब्राह्मणलोग जिसका ज्ञान हो जानेसे और किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते उस ब्रह्मका बोध किस प्रकार होता है? इसपर कहते हैं—

आत्मज्ञकी सर्वज्ञता

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥ ३ ॥

जिस इस आत्माके द्वारा मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुनजन्य सुखोंको निश्चयपूर्वक जानता है [उस आत्मासे अविज्ञेय] इस लोकमें और क्या रह जाता है ? [तुझ नचिकेताका पूछा हुआ] वह तत्त्व निश्चय यही है ॥ ३ ॥

येन विज्ञानस्वभावेनात्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्मैथुननिमित्तान्सुखप्रत्ययान्विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः ।

सम्पूर्ण लोक जिस विज्ञानस्वरूप आत्माके द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन—मैथुनजनित सुखोंको स्पष्टतया जानता है [वही ब्रह्म है] ।

ननु नैवं प्रसिद्धिर्लोकस्य आत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति । देहादिसंघातोऽहं विजानामीति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति ।

शङ्का—परन्तु लोकमें ऐसी कोई प्रसिद्धि नहीं है कि मैं किसी देहादिसे विलक्षण आत्माद्वारा जानता हूँ । सब लोग यही समझते हैं कि मैं देहादि संघातरूप ही सब कुछ जानता हूँ ।

न त्वेवम् । देहादिसंघातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशेषाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम् । यदि हि देहादिसंघातो रूपाद्यात्मकः सन्रूपादीन्विजानीयाद्बाह्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपं च विजानीयुः । न चैतदस्ति तस्माद्देहादिलक्षणांश्च रूपादीनेतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावेनात्मना विजानाति लोकः । यथा येन लोहो दहति सोऽग्निरिति तद्वत् ।

दृग्दृश्यविवेचनम्

समाधान—ऐसी बात तो नहीं है; क्योंकि देहादि संघात भी समानरूपसे शब्दादिरूप तथा विज्ञेयस्वरूप है; अतः उसे ज्ञाता मानना उचित नहीं है । यदि देहादि संघात रूप-रसादिस्वरूप होकर भी रूपादिको जान ले तो बाह्य रूपादि भी परस्पर एक-दूसरेको तथा अपने-अपने रूपको जान लेंगे; किन्तु यह बात है नहीं । अतः लोक देहादिस्वरूप रूपादिको इस देहादिव्यतिरिक्त विज्ञानस्वभाव आत्माके द्वारा ही जानता है । जिस प्रकार लोहा जिसके द्वारा जलाता है उसे अग्नि कहते हैं उसी प्रकार [जिसके द्वारा लोक देहादि विषयोंको जानता है उसे आत्मा कहते हैं] ।

आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिँल्लोके परिशिष्यते न किंचित्परिशिष्यते । सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम् । यस्यात्मनोऽविज्ञेयं न किंचित्परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः । एतद्वै तत् । किं तद्यत् नचिकेतसा पृष्टं देवादिभिरपि

उस आत्मासे जिसका ज्ञान न हो सके ऐसा क्या पदार्थ इस लोकमें रह जाता है, अर्थात् कुछ भी नहीं रहता—सभी कुछ आत्मासे ही जाना जा सकता है । [इस प्रकार] जिस आत्मासे अविज्ञेय कोई भी वस्तु नहीं रहती वह आत्मा सर्वज्ञ है और यही वह है । वह कौन है ? जिसके विषयमें तुझ नचिकेताने प्रश्न किया है, जो देवादिका भी सन्देहास्पद है तथा

विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद् विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः ॥३॥

जो धर्माधर्मादिसे अन्य विष्णुका परमपद है और जिससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है वही यह [ब्रह्म-पद] अब ज्ञात हुआ है—ऐसा इसका भावार्थ है ॥ ३ ॥



अतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विज्ञेयमिति मत्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह—

वह ब्रह्म अति सूक्ष्म होनेके कारण दुर्विज्ञेय है—ऐसा मानकर उसी बातको बारम्बार कहते हैं—

आत्मज्ञकी निश्शोकता

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

जिसके द्वारा मनुष्य स्वप्नमे प्रतीत होनेवाले तथा जाग्रत्मे दिखायी देनेवाले—दोनो प्रकारके पदार्थोंको देखता है उस महान् और विभु आत्माको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नही करता ॥ ४ ॥

स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः तथा जागरितान्तं जागरितमध्यं जागरितविज्ञेयं च; उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येन आत्मनानुपश्यति लोक इति सर्वं पूर्ववत् । तं महान्तं विभुमात्मानं

स्वप्नान्त—स्वप्नका मध्य अर्थात् स्वप्नावस्थामें जानने योग्य तथा जागरितान्त—जाग्रत् अवस्थाका मध्य यानी जाग्रत् अवस्थामे जानने योग्य—इन दोनो स्वप्न और जाग्रत्के अन्तर्गत पदार्थोंको लोक जिस आत्माके द्वारा देखता है [वही ब्रह्म है; इस प्रकार] इस वाक्यकी और सब व्याख्या पूर्व मन्त्रके समान करनी चाहिये । उस

मत्वावगम्यात्मभावेन साक्षात् अहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति ॥४॥

महान् और विभु आत्माको जानकर अर्थात् 'वह परमात्मा मैं ही हूँ' ऐसा आत्मभावसे साक्षात् अनुभव कर धीर—बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ ४ ॥

किं च—

तथा—

आत्मज्ञकी निर्भयता

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥ ५ ॥

जो पुरुष इस कर्मफलभोक्ता और प्राणादिको धारण करनेवाले आत्माको उसके समीप रहकर भूत, भविष्यत् [और वर्तमान] के शासकरूपसे जानता है वह वैसा विज्ञान हो जानेके अनन्तर उस (आत्मा) की रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करता । निश्चय यही वह [आत्मतत्त्व] है ॥ ५ ॥

यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारमात्मानं वेद विजानाति अन्तिकादन्तिके समीप ईशानम् ईशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुम् इच्छत्यभयप्राप्तत्वात् । यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं मन्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्यात्मानम् ।

जो कोई इस मध्वद—कर्मफलभोक्ता और जीव—प्राणादि कारण-कलापको धारण करनेवाले आत्माको समीपसे भूत-भविष्यत् आदि तीनों कालोंके शासकरूपसे जानता है, वह ऐसा ज्ञान हो जानेके अनन्तर उस आत्माका गोपन—रक्षण नहीं करना चाहता; क्योंकि वह अभयको प्राप्त हो जाता है। जबतक वह भयके मध्यमें स्थित हुआ अपने आत्माको अनित्य समझता है तभी-तक उसकी रक्षा भी करना चाहता

यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेत्। एतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

है। जिस समय आत्माको नित्य और अद्वैत जान लेता है उस समय कौन किसको कहाँसे, सुरक्षित रखनेकी इच्छा करेगा? निश्चय यही वह आत्मतत्त्व है—इस प्रकार पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ ५ ॥

यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः स सर्वात्मेत्येतद्दर्शयति—

जिस प्रत्यगात्माका यहाँ ईश्वर-भावसे निर्देश किया गया है वह सबका अन्तरात्मा है—यह बात इस मन्त्रसे दिखलायी जाती है—

ब्रह्मका सार्वात्म्यदर्शन

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥ एतद्वै तत् ॥६॥

जो मुमुक्षु पहले तपसे उत्पन्न हुए [हिरण्यगर्भ] को, जो कि जल आदि भूतोसे पहले उत्पन्न हुआ है, भूतोके सहित बुद्धिरूप गुहामे स्थित हुआ देखता है वही उस ब्रह्मको देखता है। निश्चय यही वह ब्रह्म है ॥ ६ ॥

यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्येतज्जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम्; किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह—अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पञ्चभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः,

जिस मुमुक्षुने पहले तपसे—ज्ञानादिलक्षण ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको। किसकी अपेक्षा पूर्व उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—जो जलसे पूर्व अर्थात् जलसहित पाँचों तत्त्वोसे, न कि केवल जलसे ही, पूर्व उत्पन्न हुआ है उस प्रथमज

अजायत उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभिर्भूतैः कार्यकरणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत् । य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म ॥ ६ ॥

(हिरण्यगर्भ) को देवादि शरीरोंको उत्पन्न कर सम्पूर्ण प्राणियोंकी गुहा—हृदयाकाशमें प्रविष्ट हो देहेन्द्रियरूप भूतोंके सहित शब्दादि विषयोंको अनुभव करते जिसने देखा है यानी जो इस प्रकार देखता है [वही वास्तवमें देखता है] । जो ऐसा अनुभव करता है वही उसे देखता है जो कि यह प्रकृत ब्रह्म है ॥ ६ ॥

किं च— तथा—

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ॥ एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

जो देवतामयी अदिति प्राणरूपसे प्रकट होती है तथा जो बुद्धिरूप गुहामें प्रविष्ट होकर रहनेवाली और भूतोंके साथ ही उत्पन्न हुई है [उसे देखो] निश्चय यही वह तत्त्व है ॥ ७ ॥

या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद्ब्रह्मणः संभवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद् गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम् । तामेव विशिनष्टि-या भूतेभिः

जो सर्वदेवतामयी—सर्वदेवस्वरूपा अदिति प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भरूपसे परब्रह्मसे उत्पन्न होती है; शब्दादि विषयोंका अदन (भक्षण) करनेके कारण उसे अदिति कहते हैं—बुद्धिरूप गुहामें पूर्ववत् प्रविष्ट होकर स्थित हुई उस अदितिको [देखो] । उस अदितिकी ही विशेषता बतलाते हैं—

भूतैः समन्विता व्यजायत उत्पन्ना इत्येतत् ॥७॥

जो भूतोंके सहित अर्थात् भूतोंसे समन्वित ही उत्पन्न हुई है । [वही तेरा पूछा हुआ तत्त्व है] ॥ ७ ॥

अरणिस्थ अग्निमें ब्रह्मदृष्टि

किं च—

तथा—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥
एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

गर्भिणी स्त्रियोंद्वारा भली प्रकार पोषित हुए गर्भके समान जो जातवेदा (अग्नि) दोनों अरणियोंके बीचमें स्थित है तथा जो प्रमाद-शून्य एवं होम-सामग्रीयुक्त पुरुषोंद्वारा नित्यप्रति स्तुति किये जाने योग्य है यही वह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

योऽधियज्ञ उत्तराधरारण्योः निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ताध्यात्मं च योगिभिर्गर्भ इव गर्भिणीभिः अन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोक इवेत्थमेवर्त्विग्भिर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत् । किं च दिवे दिवेऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च जागृवद्भिः जागरणशीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतत्

जो अधियज्ञरूपसे ऊपर और नीचेकी अरणियोंमें निहित अर्थात् स्थित हुआ और होम किये हुए सम्पूर्ण पदार्थोंका भोक्ता अध्यात्म-रूप जातवेदा—अग्नि है; जैसे गर्भिणी—अन्तर्वत्नी स्त्रियाँ शुद्ध अन्न-पानादिद्वारा अपने गर्भकी बहुत अच्छी तरह रक्षा करती हैं उसी प्रकार यज्ञ करनेवाले तथा योगीजन जिसे धारण करते हैं, तथा घृत आदि होमसामग्रीयुक्त, कर्म-परायण एवं जागरणशील—प्रमाद-शून्य याजकों और ध्यानभावना-

हविष्मद्भिराज्यादिमद्भिर्ध्यान-भावनावद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुष्यैः अग्निः । एतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म ८

युक्त योगियोंद्वारा जो [क्रमशः] यज्ञ और हृदयदेशमें स्तुति किये जाने योग्य है, ऐसा जो अग्नि है वही निश्चय यह प्रकृत ब्रह्म है ॥८॥

प्राणमें ब्रह्मदृष्टि

किं च—

तथा—

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ ९॥

जहाँसे सूर्य उदित होता है और जहाँ वह अस्त होता है उस प्राणात्मामें [अन्नादि और वागादिक] सम्पूर्ण देवता अर्पित हैं। उसका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता। यही वह ब्रह्म है ॥९॥

यतश्च यस्मात्प्राणादुदेति उत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽहन्यहनि गच्छति तं प्राणमात्मानं देवा अग्न्यादयोऽधिदैवं वागादयश्च अध्यात्मं सर्वे विश्वेऽरा इव रथ-नाभावर्पिताः संप्रवेशिताः स्थिति-काले सोऽपि ब्रह्मैव। तदेतत् सर्वात्मकं ब्रह्म। तदु नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि । एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

जिससे—जिस प्राणसे नित्य-प्रति सूर्य उदित होता है और जिस प्राणमें ही वह नित्यप्रति अस्तभावको प्राप्त होता है उस प्राणात्मामें स्थितिके समय अग्नि आदि अधिदैव और वागादि अध्यात्म सभी देवता इस प्रकार अर्पित हैं—प्रविष्ट किये गये हैं जैसे रथकी नाभिमें समस्त अरे; वह [प्राण] भी ब्रह्म ही है। वही यह सर्वात्मक ब्रह्म है। उसका अति-क्रमण कोई भी नहीं करता अर्थात् उस ब्रह्मके तादात्म्य भावको पार करके कोई भी उससे अन्यत्वको प्राप्त नहीं होता। यही वह (ब्रह्म) है ॥ ९ ॥

यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमानं तत्तदुपाधित्वादब्रह्मवदवभासमानं संसार्यन्यत्परस्माद् ब्रह्मण इति मा भूत्कस्यचिदाशङ्का इतीदमाह--

जो ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंमें वर्तमान है और भिन्न-भिन्न उपाधियोंके कारण अब्रह्मवत् भासित होता है वह संसारी जीव परब्रह्मसे भिन्न है—ऐसी किसीको शङ्का न हो जाय, इसलिये यमराज इस प्रकार कहते हैं—

भेददृष्टिकी निन्दा

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

जो तत्त्व इस (देहेन्द्रियसंघात) में भासता है वही अन्यत्र (देहादिसे परे) भी है और जो अन्यत्र है वही इसमें है । जो मनुष्य इस तत्त्वमें नानात्व देखता है वह मृत्युसे मृत्युको [अर्थात् जन्म-मरणको] प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यदेवेह कार्यकरणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमानमविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म । यच्चामुत्रामुष्मिन्नात्मनि स्थितं तदेवेह नामरूपकार्यकरणोपाधिम् अनुविभाव्यमानं नान्यत् ।

जो इस लोकमें कार्यकरण (देहेन्द्रिय) रूप उपाधिसे युक्त होकर अविवेकियोंको संसारधर्मयुक्त भास रहा है स्वस्वरूपमें स्थित वही ब्रह्म अन्यत्र (इन देहादिसे परे) नित्य विज्ञानघनस्वरूप और सम्पूर्ण संसारधर्मोंसे रहित है । तथा जो अमुत्र—उस आत्मामें अर्थात् परमात्मभावमें स्थित है वही इस लोकमें नाम-रूप एवं कार्य-करणरूप उपाधिके अनुरूप भासनेवाला आत्मतत्त्व है; और कोई नहीं ।

तत्रैवं सत्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षणयाविद्यया मोहितः सन् य इह ब्रह्मण्यनानाभूते परस्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्यत्युपलभते स मृत्योर्मरणान्मरणं मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते । तस्मात्तथा न पश्येत् । विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाकाशवत् परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति पश्येत् इति वाक्यार्थः ॥ १० ॥

ऐसा होनेपर भी जो पुरुष उपाधिके स्वभाव और भेददृष्टिरूप अविद्यासे मोहित होकर इस अभिन्नभूत—एकरूप ब्रह्ममें 'मैं परमात्मासे भिन्न हूँ और परमात्मा मुझसे भिन्न है, इस प्रकार भिन्नवत् देखता है वह मृत्युसे मृत्युको अर्थात् बारम्बार जन्म-मरणभावको प्राप्त होता है । अतः ऐसी दृष्टि नहीं करनी चाहिये । बल्कि 'मैं निर्वाचरूपसे आकाशके समान परिपूर्ण और विज्ञानैकरस-स्वरूप ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार देखे । यही इस वाक्यका अर्थ है ॥१०॥

प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन—

एकत्व-ज्ञान होनेसे पहले आचार्य और शास्त्रसे संस्कारयुक्त हुए—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥

मनसे ही यह तत्त्व प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्मतत्त्वमें नाना कुछ भी नहीं है । जो पुरुष इसमें नानात्व-सा देखता है वह मृत्युसे मृत्युको जाता है ॥ ११ ॥

मनसेदं ब्रह्मैकरसमाप्तव्यम् आत्मैव नान्यदस्तीति । आप्ते

मनके द्वारा ही यह एकरस ब्रह्म 'सब कुछ आत्मा ही है, और

च नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना नास्ति किञ्चनाणुमात्रम् अपि । यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं न मुञ्चति नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन् इत्यर्थः ॥ ११ ॥

कुछ नहीं है' इस प्रकार प्राप्त करने योग्य है । इस प्रकार उसकी प्राप्ति हो जानेपर नानात्वको स्थापित करनेवाली अविद्याके निवृत्त हो जानेसे इस ब्रह्मतत्त्वमें किञ्चित्—अणुमात्र भी नानात्व नहीं रहता । किन्तु जो पुरुष अविद्यारूप तिमिररोगग्रस्त दृष्टिको नहीं त्यागता बल्कि नानात्व ही देखता है वह इस प्रकार थोड़ा-सा भी भेद आरोपित करनेसे मृत्युसे मृत्युको [अर्थात् जन्म-मरणको] प्राप्त होता ही है ॥ ११ ॥

हृदयपुण्डरीकस्थ ब्रह्म

पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माह—

फिर भी उस प्रकृत ब्रह्मका ही वर्णन करते हैं—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥ १२ ॥

जो अङ्गुष्ठपरिमाण पुरुष शरीरके मध्यमें स्थित है, उसे भूत, भविष्यत् [और वर्तमान] का शासक जानकर वह उस (आत्माके ज्ञान) के कारण अपने शरीरकी रक्षा करना नहीं चाहता; निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः । अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्तःकरणोपाधिः

अङ्गुष्ठमात्र यानी अङ्गुष्ठपरिमाण; हृदयकमल अङ्गुष्ठके समान परिमाणवाला है; उसके छिद्रमें रहनेवाला जो अन्तःकरणोपाधिक

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत् पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमात्मानम् ईशानं भूतभव्यस्य विदित्वा न तत् इत्यादि पूर्ववत् ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्र—अँगूठेके बराबर परिमाणवाले बाँसके पर्वमें स्थित आकाशके समान अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला पुरुष शरीरके मध्यमें स्थित है—उससे सारा शरीर पूर्ण है, इसलिये वह पुरुष है—उस भूत-भविष्यत् कालके शासक आत्माको जानकर [ज्ञानी पुरुष अपनेको सुरक्षित रखनेकी इच्छा नहीं करता] इत्यादि शेष पदकी पूर्ववत् व्याख्या करनी चाहिये ॥ १२ ॥

किं च—

तथा—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ॥ १३ ॥

यह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योतिके समान है। यह भूत-भविष्यत्का शासक है। यही आज (वर्तमान कालमें) है और यही कल (भविष्यत्में) भी रहेगा। और निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है ॥ १३ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति युक्तं ज्योतिष्परत्वात्। यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य स नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं

वह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योतिके समान है। मूल मन्त्रमें जो 'अधूमकः' पद है वह [नपुंसकलिङ्ग] 'ज्योतिः' शब्दका विशेषण होनेके कारण 'अधूमकम्' ऐसा होना चाहिये। जो योगियोंको इस प्रकार हृदयमें लक्षित होता है वह भूत और भविष्यत्का शास्ता नित्य कूटस्थ आज—इस समय

प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्यस्तत्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः। अनेन नायमस्तीति चैक इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तस्तथा क्षणभङ्गवादश्च ॥ १३ ॥

प्राणियोंमें वर्तमान है और वही कल भी रहेगा, अर्थात् उसके समान कोई और पुरुष उत्पन्न नहीं होगा। इससे 'कोई कहते हैं कि यह नहीं है' ऐसा [१ । १ । २० मन्त्रमें कहा हुआ] जो पक्ष है वह यद्यपि न्यायतः प्राप्त नहीं होता तथापि उसका और बौद्धोंके क्षणभङ्गवादका खण्डन भी श्रुतिने स्ववचनसे कर दिया है ॥ १३ ॥

भेदापवाद

पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मण आह—

ब्रह्ममें जो भेददृष्टि की जाती है उसका अपवाद श्रुति फिर भी कहती है—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

जिस प्रकार ऊँचे स्थानमें बरसा हुआ जल पर्वतोंमें (पर्वतीय निम्न देशोंमें) बह जाता है उसी प्रकार आत्माओंको पृथक्-पृथक् देखकर जीव उन्हींको (भिन्नात्मत्वको ही) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देश उच्छ्रिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्वतवत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति एवं धर्मान् आत्मनो भिन्नान्पृथक्पश्यन्पृथक्

जिस प्रकार दुर्ग—दुर्गम स्थान अर्थात् ऊँचाईपर बरसा हुआ जल पर्वतों—पर्वतीय निम्न प्रदेशोंमें फैलकर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार धर्मों अर्थात् आत्माओंको पृथक्—प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न देखने-

एव प्रतिशरीरं पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुविधावति । शरीरभेदमेव पृथक्पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

वाला मनुष्य उन्हीं—शरीरभेदका अनुसरण करनेवालोंको ओर ही जाता है, अर्थात् बारम्बार भिन्न-भिन्न शरीरभेदको ही प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

यस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञानघनैकरसमद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्य आत्मस्वरूपं कथं सम्भवतीत्युच्यते—

जो विद्यावान् है, जिसकी उपाधिकृत भेददृष्टि नष्ट हो गयी है और जो एकमात्र विशुद्धविज्ञानघनैकरस अद्वितीय आत्माको ही देखनेवाला है उस विज्ञानी मुनि—मननशीलका आत्मा कैसा होता है ? यह बतलाया जाता है—

अभेददर्शनकी कर्तव्यता

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

जिस प्रकार शुद्ध जलमें डाला हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार, हे गौतम ! विज्ञानी मुनिका आत्मा भी हो जाता है ॥ १५ ॥

यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवत्यात्माप्येवमेव भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य हे गौतम ।

जिस प्रकार शुद्ध—स्वच्छ जलमें आसिक्त—प्रक्षिप्त (डाला हुआ) शुद्ध—स्वच्छ जल उसके साथ मिलकर एकरस हो जाता है—उससे विपरीत अवस्थामें नहीं रहता उसी प्रकार हे गौतम ! एकत्वको जाननेवाले मुनि—मननशील पुरुषका आत्मा भी वैसा

तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा वेदेनोपदिष्टम् आत्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैः आदरणीयमित्यर्थः ॥ १५ ॥

ही हो जाता है। अतः तात्पर्य यह है कि सभीको कुतार्किककी भेददृष्टि और नास्तिककी कुदृष्टिका परित्याग कर सहस्रों माता-पिताओंसे भी अधिक हितैषी वेदके उपदेश किये हुए आत्मैकत्वदर्शनका ही अभिमानरहित होकर आदर करना चाहिये ॥१५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥ (४)



द्वितीया वल्ली



प्रकारान्तरसे ब्रह्मानुसन्धान

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो दुर्विज्ञेयत्वाद्ब्रह्मणः—

ब्रह्म अत्यन्त दुर्विज्ञेय है; अतः ब्रह्मतत्त्वका प्रकारान्तरसे फिर भी निश्चय करनेके लिये यह आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ १ ॥

उस नित्यविज्ञानस्वरूप अजन्मा [आत्मा] का पुर ग्यारह दरवाजोंवाला है । उस [आत्मा] का ध्यान करनेपर मनुष्य शोक नहीं करता और वह [इस शरीरके रहते हुए ही कर्मबन्धनसे] मुक्त हुआ ही मुक्त हो जाता है । निश्चय यही वह [ब्रह्म] है ॥ १ ॥

शरीरस्य ब्रह्मपुरत्वम्

पुरं पुरमिव पुरम् । द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसम्पत्तिदर्शनाच्छरीरं पुरम् । पुरं च सोपकरणं स्वात्मनासंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम्; तथेदं पुरसामान्यादनेकोपकरणसंहतं

[यह शरीररूप] पुर पुरके समान होनेसे पुर कहलाता है । द्वारपाल और अधिष्ठाता (हाकिम) आदि अनेकों पुरसम्बन्धिनी सामग्री दिखायी देनेके कारण शरीर पुर है । और जिस प्रकार सम्पूर्ण सामग्रीके सहित प्रत्येक पुर अपनेसे असंहत (बिना मिले हुए) स्वतन्त्र स्वामीके [उपभोगके] लिये देखा जाता है उसी प्रकार पुरसे सदृशता होनेके कारण यह अनेक सामग्री-

शरीरं स्वात्मनासंहतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति ।

तच्चेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादश द्वाराण्यस्य सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सहावाञ्चि त्रीणि शिरस्येकं तैरेकादशद्वारं पुरम् । कस्याजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्यात्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्मविलक्षणस्य । अवक्रचेतसः अवक्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येत्यवक्रचेतास्तस्यावक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः ।

यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं पुरस्वामिनमनुष्ठाय ध्यात्वा—ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकम्—तं सर्वैषणाविनिर्मुक्तः सन्समं सर्वभूतस्थं

स्वात्मानुभवेन शोकादिनिवृत्तिः

सम्पन्न शरीर भी अपनेसे पृथक् राजस्थानीय अपने स्वामी [आत्मा] के लिये होना चाहिये ।

यह शरीरनामक पुर ग्यारह दरवाजोंवाला है । [दो आँख, दो कान, दो नासारन्ध्र और एक मुख इस प्रकार] सात मस्तकसम्बन्धी, नाभिके सहित [शिश्न और गुदा मिलाकर] तीन निम्नदेशीय तथा [ब्रह्मरन्ध्ररूप] एक शिरमें रहनेवाला—इस प्रकार इन सभी द्वारोंसे [युक्त होनेके कारण] यह पुर एकादश द्वारवाला है । वह पुर किसका है ? [इसपर कहते हैं—] अजका, अर्थात् पुरके धर्मोंसे विलक्षण जन्मादि विकाररहित राजस्थानीय आत्माका । इसके सिवा जो अवक्रचित्त है—जिसका चित्त-विज्ञान अवक्र—अकुटिल अर्थात् सूर्यके समान नित्यस्थित और एकरूप है उस अवक्रचेता राजस्थानीय ब्रह्मका [यह पुर है] ।

जिसका यह पुर है उस पुरस्वामी परमेश्वरका अनुष्ठान—ध्यान करके, क्योंकि सम्यग्विज्ञानपूर्वक ध्यान ही उसका अनुष्ठान है; अतः सम्पूर्ण एषणाओंसे मुक्त होकर उस सम, सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित ब्रह्मका ध्यान

ध्यात्वा न शोचति । तद्विज्ञानाद् अभयप्राप्तेः शोकावसराभावात् कुतो भयेक्षा । इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति । विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः ॥ १ ॥

कर पुरुष शोक नहीं करता । ब्रह्मके विज्ञानसे अभय-प्राप्ति हो जानेसे शोकका अवसर न रहनेके कारण भयदर्शन भी कहाँ हो सकता है ? अतः वह इस लोकमें ही अविद्याकृत काम और कर्मके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है; इस प्रकार वह मुक्त (जीवन्मुक्त) हुआ ही मुक्त (विदेहमुक्त) होता है; अर्थात् पुनः शरीरग्रहण नहीं करता ॥ १ ॥

स तु नैकशरीरपुरवर्त्येवात्मा किं तर्हि सर्वपुरवर्ती । कथम्—

परन्तु वह आत्मा तो केवल एक ही शरीररूप पुरमें रहनेवाला नहीं है, बल्कि सभी पुरोंमें रहता है। किस प्रकार रहता है ? [सो कहते हैं—]

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥

वह गमन करनेवाला है, आकाशमें चलनेवाला सूर्य है, वसु है, अन्तरिक्षमें विचरनेवाला सर्वव्यापक वायु है, वेदी (पृथिवी) में स्थित होता (अग्नि) है, कलशमें स्थित सोम है । इसी प्रकार वह मनुष्योंमें गमन करनेवाला, देवताओंमें जानेवाला, सत्य या यज्ञमें गमन करनेवाला, आकाशमें जानेवाला, जल, पृथिवी, यज्ञ और पर्वतोंसे उत्पन्न होनेवाला तथा सत्यस्वरूप और महान् है ॥ २ ॥

हंसो हन्ति गच्छतीति । आत्मनः सर्वपुरान्तर्वर्तित्वम् शुचिषच्छुचौ दिव्यादित्यात्मना सीदति इति । वसुर्वासयति सर्वानिति । वाय्वात्मनान्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत् । होताग्निः "अग्निर्वै होता" इति श्रुतेः । वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषद् । "इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः" (ऋ० सं० २ । ३ । २०) इत्यादिमन्त्रवर्णात् । अतिथिः सोमः सन्दुरोणे कलशे सीदति इति दुरोणसत् । ब्राह्मणः अतिथिरूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति ।

वह गमन करता है इसलिये 'हंस' है, शुचि—आकाशमें सूर्यरूपसे चलता है इसलिये 'शुचिषत्' है; सबको व्याप्त करता है इसलिये 'वसु' है, वायुरूपसे आकाशमें चलता है इसलिये 'अन्तरिक्षसत्' है, "अग्नि ही होता है" इस श्रुतिके अनुसार 'होता' अग्निको कहते हैं। वेदी—पृथिवीमें गमन करता है अतः 'वेदिषद्' है जैसा कि "यह वेदी पृथिवी (यज्ञभूमि) का उत्कृष्ट मध्यभाग है" इत्यादि मन्त्रवर्णसे प्रमाणित होता है । यह अतिथि—सोम होकर दुरोण—कलशमें स्थित होता है इसलिये 'दुरोणसत्' है । अथवा ब्राह्मण अतिथिरूपसे दुरोण—घरोंमें रहता है इसलिये वही 'अतिथिः दुरोणसत्' है ।

नृषन्नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत् । वरसद् वरेषु देवेषु सीदतीति, ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति । व्योमसद् व्योम्न्याकाशे सीदतीति व्योमसत् । अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमकरादिरूपेण जायत इति ।

वह मनुष्योंमें जाता है इसलिये 'नृषत्' है, वर—देवताओंमें जाता है इसलिये 'वरसत्' है, ऋत—सत्य अथवा यज्ञको कहते हैं, उसमें गमन करता है इसलिये 'ऋतसत्' है, व्योम—आकाशमें चलता है इसलिये 'व्योमसत्' है । अप्—जलमें शंख, सीपी और मकर आदि रूपोंसे उत्पन्न होता है इसलिये

गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायत इति । ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति । अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति ।

'अब्जा' है । गो—पृथिवीमें व्रीहि-यवादिरूपसे उत्पन्न होता है इसलिये 'गोजा' है । ऋत—यज्ञाङ्गरूपसे उत्पन्न होता है इसलिये 'ऋतजा' है । नदी आदिरूपसे अद्रि—पर्वतोंसे उत्पन्न होता है इसलिये 'अद्रिजा' है ।

सर्वात्मापि सन्नृतमवितथस्वभाव एव । बृहन्महान्सर्वकारणत्वात् । यदाप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाप्यस्यात्मस्वरूपत्वमादित्यस्येत्यङ्गीकृतत्वाद् ब्राह्मणव्याख्यानेऽप्यविरोधः । सर्वव्याप्येक एवात्मा जगतो नात्मभेद इति मन्त्रार्थः ॥ २ ॥

इस प्रकार सर्वात्मा होकर भी वह ऋत—अवितथस्वभाव ही है तथा सबका कारण होनेसे बृहत्—महान् है । [असौ वा आदित्यो हंसः·······इत्यादि ब्राह्मणमन्त्रके अनुसार] यदि इस मन्त्रसे आदित्यका ही वर्णन किया गया हो तो भी 'आदित्य [इस चराचरके] आत्मस्वरूप हैं,'[1] ऐसा अङ्गीकृत होनेके कारण इसका उस ब्राह्मणग्रन्थकी व्याख्यासे भी अविरोध ही है । अतः इस मन्त्रका तात्पर्य यही है कि जगत्‌का एक ही सर्वव्यापक आत्मा है, आत्माओंमें भेद नहीं है ॥ २ ॥

आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—

अब आत्माका स्वरूपज्ञान करानेमें लिङ्ग बतलाते हैं—

१. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋ० सं० १ । ८ । ७) ।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

जो प्राणको ऊपरकी ओर ले जाता है और अपानको नीचेकी ओर ढकेलता है, हृदयके मध्यमें रहनेवाले उस वामन—भजनीयकी सब देव उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

आत्मनः प्राणापानयोः अधिष्ठातृत्वम्

ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति। तथापानं प्रत्यगधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः । तं मध्ये हृदयपुण्डरीकाकाश आसीनं बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशनं वामनं संभजनीयं विश्वे सर्वे देवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश इव राजानमुपासते तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्ति इत्यर्थः । यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः ॥ ३ ॥

जो हृदयदेशसे प्राण—प्राणवृत्तिरूप वायुको ऊर्ध्व—ऊपरकी ओर ले जाता है तथा अपानको प्रत्यक्—नीचेकी ओर ढकेलता है । इस वाक्यमें 'यः (जो)' यह पद शेष रह गया है । हृदयकमलाकाशके भीतर रहनेवाले उस वामन अर्थात् भजनीयकी, जिसका विज्ञानरूप प्रकाश बुद्धिमें अभिव्यक्त होता है, चक्षु आदि सभी देव—इन्द्रियाँ और प्राण रूप-रसादि विज्ञानरूप कर देते हुए इस प्रकार उपासना करते हैं जैसे वैश्यलोग राजाकी अर्थात् वे चक्षु आदि उसके ही लिये अपना व्यापार बंद नहीं करते । अतः जिसके लिये और जिसकी प्रेरणासे प्राण और इन्द्रियोंके समस्त व्यापार होते हैं वह उनसे अन्य है—ऐसा सिद्ध हुआ । यही इस वाक्यका अर्थ है ॥ ३ ॥

देहस्थ आत्मा ही जीवन है

किं च— | तथा—

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

इस शरीरस्थ देहीके भ्रष्ट हो जानेपर—इस देहसे मुक्त हो जानेपर भला इस शरीरमें क्या रह जाता है ? [अर्थात् कुछ भी नहीं रहता] यही वह [ब्रह्म] है ॥ ४ ॥

अस्य शरीरस्थस्यात्मनो विस्रंसमानस्यावस्रंसमानस्य भ्रंशमानस्य देहिनो देहवतः; विस्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्विमुच्यमानस्येति किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलापे न किञ्चन परिशिष्यतेऽत्र देहे पुरस्वामिविद्रवण इव पुरवासिनां यस्यात्मनोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकरणकलापरूपं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः सिद्धः ॥ ४ ॥

इस शरीरस्थ देही—देहवान् आत्माके विस्रंसमान—अवस्रंसमान अर्थात् भ्रष्ट हो जानेपर इस प्राणादि समुदायमेंसे भला क्या रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं रहता । 'देहाद्विमुच्यमानस्य' ऐसा कहकर विस्रंसन शब्दका अर्थ बतलाया गया है । नगरके स्वामीके चले जानेपर जैसे पुरवासियोंकी दुर्दशा होती है उसी प्रकार इस शरीरमें, जिस आत्माके चले जानेपर, एक क्षणमें ही यह भूत और इन्द्रियोंका समुदायरूप सब-का-सब बलहीन—विध्वस्त अर्थात् नष्ट हो जाता है वह इससे भिन्न ही सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमात् एवेदं विध्वस्तं भवति न तु तद्व्यतिरिक्तात्मापगमात्प्राणादिभिरेव हि मर्त्यो जीवतीति नैतदस्ति—

यदि कोई ऐसा माने कि यह शरीर, प्राण और अपान आदिके चले जानेसे ही नष्ट हो जाता है, उनसे भिन्न किसी आत्माके जानेसे नहीं; क्योंकि प्राणादिके कारण ही मनुष्य जीवित रहता है—तो ऐसी बात नहीं है, [क्योंकि—]

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

कोई भी मनुष्य न तो प्राणसे जीवित रहता है और न अपानसे ही । बल्कि वे तो, जिसमें ये दोनों आश्रित हैं ऐसे किसी अन्यसे ही जीवित रहते हैं ॥ ५ ॥

न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान्कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते । स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां लोके; तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हति ।

कोई भी मर्त्य—मनुष्य अर्थात् देहधारी न तो प्राणसे जीवित रहता है और न अपान अथवा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ही; क्योंकि परस्पर मिलकर प्रवृत्त होनेवाले तथा किसी दूसरेके शेषभूत ये इन्द्रिय आदि जीवनके हेतु नहीं हो सकते । लोकमें किसी स्वतन्त्र और बिना मिले हुए अन्य [चेतन पदार्थ] की प्रेरणाके बिना गृह आदि संहत पदार्थोंकी स्थिति नहीं देखी गयी; उसी तरह संघातरूप होनेसे प्राणादिकी स्थिति भी स्वतन्त्र नहीं हो सकती ।

अत इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति। यस्मिन्संहतविलक्षण आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ, यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं कुर्वन्वर्तते संहतः सन्स ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

अतः ये सब परस्पर मिलकर प्राणादि संहतपदार्थोंसे भिन्न किसी अन्यके द्वारा ही जीवित रहते—प्राण धारण करते हैं, जिस संहतपदार्थ-भिन्न सत्स्वरूप परमात्माके रहते हुए ही यह प्राण-अपान चक्षु आदिसे संहत होकर आश्रित हैं; तात्पर्य यह है कि जिस असंहत आत्माके लिये प्राण-अपान आदि संहत होकर अपने व्यापारोंको करते हुए बर्तते हैं वह आत्मा उनसे भिन्न सिद्ध होता है ॥५॥

मरणोत्तरकालमें जीवकी गति

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

हे गौतम ! अब मैं फिर भी तुम्हारे प्रति उस गुह्य और सनातन ब्रह्मका वर्णन करूँगा, तथा [ब्रह्मको न जाननेसे] मरणको प्राप्त होनेपर आत्मा जैसा हो जाता है [वह भी बतलाऊँगा] ॥ ६ ॥

हन्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यम् इदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरन्तनं प्रवक्ष्यामि यद्विज्ञानात् सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य

अहो ! अब मैं तुम्हें फिर भी इस गुह्य—गोपनीय सनातन—चिरन्तन ब्रह्मके विषयमें बतलाऊँगा, जिसके ज्ञानसे सम्पूर्ण संसारकी निवृत्ति हो जाती है तथा जिसका ज्ञान न होनेपर मरणको प्राप्त होनेके अनन्तर आत्मा जैसा हो

यथात्मा भवति यथा संसरति तथा शृणु हे गौतम ॥ ६ ॥

जाता है, अर्थात् वह जिस प्रकार [जन्म-मरणरूप] संसारको प्राप्त होता है, हे गौतम ! वह सुन ॥६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करनेके लिये किसी योनिको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर-भावको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिद् अविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः; योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः । स्थाणुं वृक्षादिस्थावरभावम् अन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंयन्त्यनुगच्छन्ति । यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म यैर्यादृशं कर्मेह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत् । तथा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपार्जितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ।

अन्य—कुछ अविद्यावान् मूढ देहधारी शरीर धारण करनेके लिये वीर्यरूप बीजसे संयुक्त होकर योनि—योनिद्वारको प्राप्त होते हैं अर्थात् किसी योनिमें प्रविष्ट हो जाते हैं । दूसरे कोई अत्यन्त अधम पुरुष मरणको प्राप्त होकर [यथाकर्म और यथाश्रुत] स्थाणु यानी वृक्षादि स्थावर-भावका अनुवर्तन—अनुगमन करते हैं । तात्पर्य यह कि यथाकर्म यानी जिसका जो कर्म है अथवा इस जन्ममें जिसने जैसा कर्म किया है उसके अधीन होकर तथा यथाश्रुत यानी जिसने जैसा विज्ञान उपार्जित किया है उसके अनुरूप शरीरको ही प्राप्त होते

"यथाप्रज्ञं हि संभवाः" इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ७ ॥

हैं । "जन्म अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार हुआ करते हैं" ऐसी एक दूसरी श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है ॥ ७ ॥

यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म वक्ष्यामीति तदाह—

पहले जो यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं तुझे गुह्य ब्रह्म बतलाऊँगा'—उसे ही बतलाते हैं—

गुह्य ब्रह्मोपदेश

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः
श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

प्राणादिके सो जानेपर जो यह पुरुष अपने इच्छित पदार्थोंकी रचना करता हुआ जागता रहता है वही शुक्र (शुद्ध) है, वह ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है । उसमें सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं; कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता । निश्चय यही वह [ब्रह्म] है ॥८॥

य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति । कथम् ? कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयञ्जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद्ब्रह्म नान्यद् गुह्यं

जो यह प्राणादिके सो जानेपर जागता रहता है—[उनके साथ] सोता नहीं है । किस प्रकार जागता रहता है ? [इसपर कहते हैं—] अविद्याके योगसे स्त्री आदि अपने-अपने इच्छित—अभीष्ट पदार्थोंकी रचना करता हुआ अर्थात् उन्हें निष्पन्न करता हुआ जागता है वही शुक्र-शुभ्र यानी शुद्ध है । वह ब्रह्म है, उससे भिन्न और कोई

अस्ति । तदेवामृतमविनाशि उच्यते सर्वशास्त्रेषु । किं च पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोककारणत्वात्तस्य । तदु नात्येति कश्चन इत्यादि पूर्ववदेव ॥ ८ ॥

गुह्य ब्रह्म नहीं है । वही सब शास्त्रोंमें अमृत—अविनाशी कहा गया है । यही नहीं, उस ब्रह्ममें ही पृथिवी आदि सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं; क्योंकि वह सभी लोकोंका कारण है । उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता [निश्चय यही वह ब्रह्म है] इत्यादि [आगेकी व्याख्या] पूर्ववत् समझनी चाहिये ॥ ८ ॥

अनेकतार्किककुबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नम् अप्यात्मैकत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानमप्यनृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाधीयत इति तत्प्रतिपादन आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः—

अनेक तार्किकोंकी कुबुद्धिद्वारा जिनका चित्त चञ्चल कर दिया गया है, अतः जिनकी बुद्धि सरल नहीं है उन ब्राह्मणोंके चित्तमें, प्रमाणसे युक्त सिद्ध होनेपर भी, आत्मैकत्व-विज्ञान बारम्बार कहे जानेपर भी स्थिर नहीं होता । अतः उसके प्रतिपादनमें आदर रखनेवाली श्रुति पुनः-पुनः कहती है—

आत्माका उपाधिप्रतिरूपत्व

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण भुवनमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूप (रूपवान् वस्तु) के अनुरूप हो गया है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा उनके रूपके अनुरूप हो रहा है तथा उनसे बाहर भी है ॥ ९ ॥

अग्निर्यथैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनमयं लोकस्तमिमं प्रविष्टः अनुप्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिदार्वादि-दाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः प्रतिरूपः तत्र तत्र प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव; एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानाम् अभ्यन्तर आत्मातिसूक्ष्मत्वाद् दार्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेन अविकृतेन स्वरूपेणाकाशवत् ॥९॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि प्रकाशस्वरूप होकर भी भुवनमें— इसमें सब जीव होते हैं इसीसे इस लोकको भुवन कहते हैं, उसी इस लोकमें अनुप्रविष्ट हुआ रूप-रूपके प्रति अर्थात् काष्ठ आदि भिन्न-भिन्न प्रत्येक दाह्य पदार्थके प्रति प्रतिरूप— उस-उस पदार्थके अनुरूप हुआ दाह्य-भेदसे अनेक प्रकारका हो गया है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा—आन्तरिक आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण काष्ठादिमें प्रविष्ट हुए अग्निके समान सम्पूर्ण शरीरोंमें प्रविष्ट रहनेके कारण उनके अनुरूप हो गया है तथा आकाशके समान अपने अविकारी रूपसे उसके बाहर भी है ॥ ९ ॥

तथान्यो दृष्टान्तः—

ऐसा ही एक दूसरा दृष्टान्त भी है—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥

जिस प्रकार इस लोकमें प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है ॥ १० ॥

वायुर्यथैक इत्यादि । प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यादि समानम् ॥ १० ॥

जिस प्रकार एक ही वायु प्राणरूपसे देहोंमें अनुप्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है [उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है] इत्यादि पूर्ववत् ही समझना चाहिये ॥ १० ॥

एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तमत इदमुच्यते—

इस प्रकार एकहीकी सर्वात्मकता होनेपर संसारदुःखसे युक्त होना भी परमात्माका ही सिद्ध होता है; इसलिये ऐसा कहा जाता है—

आत्माकी असङ्गता

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण लोकका नेत्र होकर भी सूर्य नेत्रसम्बन्धी बाह्यदोषोंसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा संसारके दुःखसे लिप्त नहीं होता, बल्कि उनसे बाहर रहता है ॥ ११ ॥

सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेन उपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादिदर्शननिमित्तैराध्यात्मिकैः पापदोषैर्बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः । एकः संस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।

जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाशसे लोकका उपकार करता हुआ अर्थात् मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओंको प्रकाशित करनेके कारण उन्हें देखनेवाले समस्त लोकोंका नेत्ररूप होकर भी अपवित्र पदार्थादिके देखनेसे प्राप्त हुए आध्यात्मिक पापदोष तथा अपवित्र पदार्थोंके संसर्गसे होनेवाले बाह्यदोषोंसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा भी लोकके दुःखसे लिप्त नहीं होता, प्रत्युत उससे बाहर रहता है ।

लोको ह्यविद्यया स्वात्मनि अध्यस्तया कामकर्मोद्भवं दुःखम् अनुभवति । न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि । यथा रज्जुशुक्तिकोषरगगनेषु सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वादीनां स्वतो दोषरूपाणि

लोक अपने आत्मामें आरोपित अविद्याके कारण ही कामना और कर्मजनित दुःखका अनुभव करता है किन्तु वह [अविद्या] परमार्थतः स्वात्मामें है नहीं, जिस प्रकार कि रज्जु, शुक्ति, मरुस्थल और आकाशमें [प्रतीत होनेवाले] सर्प, रजत, जल और मलिनता—ये उन रज्जु आदिमें स्वाभाविक दोषरूप नहीं हैं

सन्ति । संसर्गिणि विपरीतबुद्ध्यध्यासनिमित्तात्तद्दोषवद्विभाव्यन्ते । न तद्दोषैस्तेषां लेपः । विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्या हि ते ।

बल्कि उनके संसर्गमें आये हुए पुरुषमें विपरीत बुद्धिका अध्यास होनेके कारण ही वे उन-उन दोषोंसे युक्त प्रतीत होते हैं। किन्तु उन दोषोंसे उनका लेप नहीं होता; क्योंकि वे तो उस विपरीत बुद्धि-जनित अध्याससे बाहर ही हैं।

तथात्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्ममरणादिदुःखमनुभवति । न त्वात्मा सर्वलोकात्मापि सन् विपरीताध्यारोपनिमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन । कुतः ? बाह्यः, रज्ज्वादिवदेव विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यो हि स इति ॥ ११ ॥

इसी प्रकार सम्पूर्ण लोक भी [रज्जु आदिमें अध्यस्त] सर्पादिके समान अपने आत्मामें क्रिया, कारक और फलरूप विपरीत ज्ञानका आरोप कर उसके निमित्तसे होनेवाले जन्म-मरण आदि दुःखका अनुभव करता है। आत्मा तो सम्पूर्ण लोकका अन्तरात्मा होकर भी विपरीत अध्यारोपसे होनेवाले लौकिक दुःखसे लिप्त नहीं होता। क्यों नहीं होता ? क्योंकि वह उससे बाहर है—अर्थात् रज्जु आदिके समान वह विपरीत बुद्धि-जनित अध्याससे बाहर ही है ॥ ११ ॥

आत्मदर्शी ही नित्य सुखी है

किं च— | तथा—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

जो एक, सबको अपने अधीन रखनेवाला और सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा अपने एक रूपको ही अनेक प्रकारका कर लेता है, अपनी बुद्धिमें स्थित उस आत्मदेवको जो धीर (विवेकी) पुरुष देखते हैं उन्हींको नित्य सुख प्राप्त होता है, औरोंको नहीं ॥ १२ ॥

स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वान्योऽस्ति । वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते । कुतः ? सर्वभूतान्तरात्मा । यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधानेकप्रकारं यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात् । तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेण अभिव्यक्तमित्येतत् ।

वह स्वतन्त्र और सर्वगत परमेश्वर एक है । उसके समान अथवा उससे बड़ा और कोई नहीं है । वह वशी है; क्योंकि सारा जगत् उसके अधीन है । उसके अधीन क्यों है ? [इसपर कहते हैं—] क्योंकि वह सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा है । इस प्रकार जो अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न होनेके कारण अपने एक—नित्य एकरस विशुद्धविज्ञानस्वरूप आत्माको नाम-रूप आदि अशुद्ध उपाधिभेदके कारण अपनी सत्तामात्रसे बहुधा—अनेक प्रकारका कर लेता है, उस आत्मस्थ अर्थात् अपने शरीरस्थ हृदयाकाश यानी बुद्धिमें चैतन्य-स्वरूपसे अभिव्यक्त हुए [आत्माको जो लोग देखते हैं उन्हींको नित्य सुख प्राप्त होता है] ।

न हि शरीरस्याधारत्वमात्मनः आकाशवदमूर्तत्वात्; आदर्शस्थं

आकाशके समान अमूर्तिमान् होनेसे आत्माका आधार शरीर नहीं है [अर्थात् आत्मा निराधार है ।]

मुखमिति यद्वत् । तमेतम् ईश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽनुपश्यन्ति आचार्यागमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखम् आत्मानन्दलक्षणं भवति; नेतरेषां बाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यविद्याव्यवधानात् ॥ १२ ॥

जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित मुखका आधार दर्पण नहीं है । जिनकी बाह्य वृत्तियाँ निवृत्त हो गयी हैं ऐसे जो धीर—विवेकी पुरुष उस ईश्वर—आत्माको देखते हैं—आचार्य और शास्त्रका उपदेश पानेके अनन्तर उसका साक्षात् अनुभव करते हैं उन परमात्मस्वरूपताको प्राप्त हुए पुरुषोंको ही आत्मानन्दरूप शाश्वत—नित्यसुख प्राप्त होता है । किन्तु दूसरे जो बाह्य पदार्थोंमें आसक्तचित्त अविवेकी पुरुष हैं उन्हें यह सुख स्वात्मभूत होनेपर भी अविद्यारूप व्यवधानके कारण प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

किं च—

इसके सिवा—

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

जो अनित्य पदार्थोंमें नित्यस्वरूप तथा ब्रह्मा आदि चेतनोंमें चेतन है और जो अकेला ही अनेकोंकी कामनाएँ पूर्ण करता है, अपनी बुद्धिमें स्थित उस आत्माको जो विवेकी पुरुष देखते हैं उन्हींको नित्यशान्ति प्राप्त होती है; औरोंको नहीं ॥ १३ ॥

नित्योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम् । चेतनश्चेतनानां चेतयितॄणां ब्रह्मादीनां प्राणिनाम् अग्निनिमित्तमिव दाहकत्वम् अनग्नीनामुदकादीनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम् । किं च स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान्य एको बहूनाम् अनेकेषामनायासेन विदधाति प्रयच्छतीत्येतत् । तमात्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः उपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव स्यान्नेतरेषामनेवंविधानाम् ॥ १३ ॥

जो अनित्यों—नाशवानोंमें नित्य—अविनाशी है, चेतन अर्थात् ब्रह्मा आदि अन्य चेतयिता प्राणियोंका भी चेतन है । जिस प्रकार जल आदि दाहशक्तिशून्य पदार्थोंका दाहकत्व अग्निके निमित्तसे होता है वैसे ही अन्य प्राणियोंका चेतनत्व आत्मचैतन्यके निमित्तसे ही है । इसके सिवा वह सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर भी है; क्योंकि वह अकेला ही बिना किसी प्रयासके अनेक सकाम संसारी पुरुषोंके कर्मानुरूप भोग यानी कर्मफल तथा अपने अनुग्रहरूप निमित्तसे हुए भोग विधान करता अर्थात् देता है । जो धीर (बुद्धिमान्) पुरुष अपने आत्मामें स्थित उस आत्मदेवको देखते हैं उन्हींको शाश्वती—नित्य यानी स्वात्मभूता शान्ति—उपरति प्राप्त होती है—अन्य जो ऐसे नहीं हैं उन्हें नहीं होती ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

उसी इस [आत्मविज्ञान] को ही विवेकी पुरुष अनिर्वाच्य परम सुख मानते हैं । उसे मैं कैसे जान सकूँगा । क्या वह प्रकाशित (हमारी बुद्धिका विषय) होता है, अथवा नहीं ॥ १४ ॥

यत्तदात्मविज्ञानं सुखम् अनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृष्टं प्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरम् अपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते यत्तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते। कथं नु केन प्रकारेण तत् सुखमहं विजानीयाम्। इदम् इत्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयं यथा निवृत्तैषणा यतयः। किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तद्यतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किं वा नेति॥ १४॥

यह जो आत्मविज्ञानरूप सुख है वह अनिर्देश्य—कथन करनेके अयोग्य, परम अर्थात् प्रकृष्ट और साधारण पुरुषोंके वाणी और मनका अविषय भी है; तो भी जो सब प्रकारकी एषणाओंसे रहित ब्राह्मणलोग हैं वे उसे प्रत्यक्ष ही मानते हैं। उस आत्मसुखको मैं कैसे जान सकूँगा? अर्थात् निष्काम यतियोंके समान 'वह यही है' इस प्रकार उसे कैसे अपनी बुद्धिका विषय बनाऊँगा? वह प्रकाशस्वरूप है, सो क्या वह भासता है—हमारी बुद्धिका विषय होकर स्पष्ट दिखलायी देता है, या नहीं?॥ १४॥

अत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति। कथम्?

इसका उत्तर यही है कि वह भासता है और विशेषरूपसे भासता है। किस प्रकार? [सो कहते हैं—]

सर्वप्रकाशकका अप्रकाश्यत्व

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १५॥

वहाँ (उस आत्मलोकमें) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत् ही चमचमाती है; फिर इस अग्निकी तो बात ही क्या है ? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाशसे ही यह सब कुछ भासता है ॥ १५ ॥

न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमस्मद्दृष्टिगोचरः अग्निः। किं बहुना यदिदमादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते। यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनुदहति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति।

यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च। कार्यगतेन

वहाँ—उस अपने आत्मस्वरूप ब्रह्ममें सबको प्रकाशित करनेवाला होकर भी सूर्य प्रकाशित नहीं होता अर्थात् वह भी उस ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करता। इसी प्रकार ये चन्द्रमा, तारे और विद्युत् भी प्रकाशित नहीं होते। फिर हमारी दृष्टिके विषयभूत इस अग्निका तो कहना ही क्या है ? अधिक क्या कहा जाय ? यह सूर्य आदि जो कुछ प्रकाशित हो रहे हैं वे सब उस परमात्माके प्रकाशित होते हुए ही अनुभासित हो रहे हैं, जिस प्रकार जल और उल्मुक (जलते हुए काष्ठ) आदि अग्निके संयोगसे अग्निके प्रज्वलित होते हुए ही दहन करते हैं, स्वयं नहीं, उसी प्रकार उसके प्रकाश—तेजसे ही ये सूर्य आदि सब प्रकाशित हो रहे हैं।

क्योंकि ऐसा है इसलिये वही ब्रह्म प्रकाशित होता है और विशेषरूपसे प्रकाशित होता है। कार्यगत

विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते। न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम्। घटादीनाम् अन्यावभासकत्वादर्शनाद्भासनरूपाणां चादित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥ १५ ॥

नाना प्रकारके प्रकाशसे उस ब्रह्मकी प्रकाशस्वरूपता स्वतः सिद्ध है; क्योंकि जिसमें स्वतः प्रकाश नहीं है वह दूसरेको भी प्रकाशित नहीं कर सकता, जैसा कि घटादिका दूसरोंको प्रकाशित करना नहीं देखा गया और प्रकाशस्वरूप आदित्यादिका दूसरोंको प्रकाशित करना देखा गया है ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥२॥ (५)



तृतीया वल्ली

संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथा, एवं संसारकार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदिधारयिषयेयं षष्ठी वल्ल्यारभ्यते—

लोकमें जिस प्रकार तूल[1] (कार्य) का निश्चय कर लेनेसे ही वृक्षके मूलका निश्चय किया जाता है उसी प्रकार संसाररूप कार्यवृक्षके निश्चयसे उसके मूल ब्रह्मका स्वरूप-निर्धारण करनेकी इच्छासे यह छठी वल्ली आरम्भ की जाती है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ १ ॥

जिसका मूल ऊपरकी ओर तथा शाखाएँ नीचेकी ओर हैं ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन (अनादि) है । वही विशुद्ध ज्योतिःस्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है । सम्पूर्ण लोक उसीमें आश्रित हैं; कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता । यही निश्चय वह [ब्रह्म] है ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूल ऊर्ध्वं मूलं यत् तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः । वृक्षश्च व्रश्चनात् ।

ऊर्ध्व (ऊपरकी ओर) अर्थात् जो वह भगवान् विष्णुका परम पद है वही जिसका मूल है ऐसा यह अव्यक्तसे स्थावरपर्यन्त संसारवृक्ष 'ऊर्ध्वमूल' है । इसका व्रश्चन—छेदन होनेके कारण यह वृक्ष कहलाता है ।

१. 'तूल' कपासको कहते हैं । वह कपासके पौधेका कार्य है । अतः यहाँ 'तूल' शब्दसे सम्पूर्ण कार्यवर्ग उपलक्षित होता है ।

जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भवन्निःसारोऽनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्वविजिज्ञासुभिः अनिर्धारितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धस्तृष्णाजलावसेकोद्भूतदर्पो बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः सुखदुःखवेदनानेकरसः

जो जन्म, जरा, मरण और शोक आदि अनेक अनर्थोंसे भरा हुआ, क्षण-क्षणमें अन्यथा भावको प्राप्त होनेवाला, माया मृगतृष्णाके जल और गन्धर्वनगरादिके समान दृष्ट-नष्टस्वरूप होनेसे अन्तमें वृक्षके समान अभावरूप हो जानेवाला, केलेके खम्भेके समान निःसार और सैकड़ों पाखण्डियोंकी बुद्धिके विकल्पोंका आश्रय है, तत्त्वजिज्ञासुओं-द्वारा जिसका तत्त्व 'इदम्' रूपसे निर्धारित नहीं किया गया, वेदान्त-निर्णीत परब्रह्म ही जिसका मूल और सार है, जो अविद्या काम कर्म और अव्यक्तरूप बीजसे उत्पन्न होनेवाला है, ज्ञान और क्रिया—ये दोनों जिसकी स्वरूपभूत शक्तियाँ हैं, वह अपरब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ ही जिसका अङ्कुर है, सम्पूर्ण प्राणियों-के लिङ्ग शरीर ही जिसके स्कन्ध हैं, जो तृष्णारूप जलके सेचनसे बढ़े हुए तेजवाला बुद्धि, इन्द्रिय और विषयरूप नूतन पल्लवोंके अङ्कुरों-वाला, श्रुति, स्मृति, न्याय और ज्ञानोपदेशरूप पत्तोंवाला, यज्ञ, दान, तप आदि अनेक क्रियाकलापरूप सुन्दर फूलोंवाला, सुख, दुःख और वेदनारूप अनेक प्रकारके रसोंसे

प्राण्युपजीव्यानन्तफलस्तत्तृष्णासलिलावसेकप्ररूढजडीकृतदृढबद्धमूलः सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वेलितास्फोटितहसिताक्रुष्टरुदितहाहामुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवो वेदान्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थवत्कामकर्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः, स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिः अवाक्शाखः; सनातनोऽनादित्वाच्चिरं प्रवृत्तः।

युक्त प्राणियोंकी आजीविकारूप अनन्त फलोंवाला तथा फलोंके तृष्णारूप जलके सेचनसे बढ़े हुए और [सात्त्विक आदि भावोंसे] मिश्रित एवं दृढतापूर्वक स्थिर हुए [कर्म-वासनादिरूप अवान्तर] मूलोंवाला है; ब्रह्मा आदि पक्षियोंने जिसपर सत्यादि नामोंवाले सात लोकरूप घोंसले बना रक्खे हैं, जो प्राणियोंके सुख-दुःखजनित हर्ष-शोकसे उत्पन्न हुए नृत्य, गान, वाद्य, क्रीडा, आस्फोटन, (खम ठोकना) हँसी, आक्रन्दन, रोदन तथा हाय-हाय, छोड़-छोड़ इत्यादि अनेक प्रकारके शब्दोंकी तुमुलध्वनिसे अत्यन्त गुञ्जायमान हो रहा है तथा वेदान्तविहित ब्रह्मात्मैक्य-दर्शनरूप असङ्गशस्त्रसे जिसका उच्छेद होता है ऐसा यह संसाररूप वृक्ष अश्वत्थ है, अर्थात् अश्वत्थ वृक्षके समान कामना और कर्मरूप वायुसे प्रेरित हुआ नित्य चञ्चल स्वभाववाला है। स्वर्ग, नरक, तिर्यक् और प्रेतादि शाखाओंके कारण यह नीचेकी ओर फैली शाखाओंवाला है तथा सनातन यानी अनादि होनेके कारण चिरकालसे चला आ रहा है।

यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मत्

इस संसारका जो मूल है वही शुक्र-शुभ्र-शुद्ध-ज्योतिर्मय अर्थात्

चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्। तदेवामृतम् अविनाशस्वभावमुच्यते कथ्यते सत्यत्वात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतम् अन्यदतो मर्त्यम्। तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगर-मरीच्युदकमायासमाः परमार्थ-दर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्ति-स्थितिलयेषु। तदु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्यं कश्चन कश्चिदपि विकारः। एतद्वै तत् ॥ १ ॥

चैतन्यात्मज्योतिःस्वरूप है। वही सबसे महान् होनेके कारण ब्रह्म है। वही सत्यस्वरूप होनेके कारण अमृत अर्थात् अविनाशी स्वभाववाला कहा जाता है। विकार वाणीका विलास और केवल नाममात्र है अतः उस ब्रह्मसे अन्य सब मिथ्या और नाशवान् है। उस परमार्थ-सत्य ब्रह्ममें उत्पत्ति, स्थिति और लयके समय सम्पूर्ण लोक गन्धर्व-नगर, मरीचिका-जल और मायाके समान आश्रित हैं, ये परमार्थदर्शन हो जानेपर बाधित हो जानेवाले हैं। जिस प्रकार घट आदि कोई भी कार्य मृत्तिका आदिका अतिक्रमण नहीं कर सकते उस प्रकार कोई भी विकार उस ब्रह्मका अतिक्रमण नहीं कर सकता। निश्चय यही वह [ब्रह्म] है ॥ १ ॥

यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत एवेदं निःसृतमिति। तन्न—

शङ्का—'जिसके ज्ञानसे अमर हो जाते हैं' ऐसा जिसके विषयमें कहा जाता है वह जगत्का मूलभूत ब्रह्म तो वस्तुतः है ही नहीं; यह सब तो असत्से ही प्रादुर्भूत हुआ है।

समाधान—ऐसी बात नहीं है [क्योंकि—]

ईश्वरके ज्ञानसे अमरत्वप्राप्ति

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

यह जो कुछ सारा जगत् है प्राण—ब्रह्ममें, उदित होकर उसीसे, चेष्टा कर रहा है । वह ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्रके समान है । जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

यदिदं किं च यत्किं चेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते । यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम् । महच्च तद्भयं च बिभेत्यस्मादिति महद्भयम्; वज्रमुद्यतमुद्यतमिव वज्रम् । यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन तच्छासने वर्तन्ते तथेदं चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं नियमेन क्षणम् अप्यविश्रान्तं वर्तत इत्युक्तं

यह जो कुछ है अर्थात् यह जो कुछ जगत् है वह सब प्राण यानी परब्रह्मके होनेपर ही उससे प्रादुर्भूत होकर एजन—कम्पन—गमन अर्थात् नियमसे चेष्टा कर रहा है । इस प्रकार जो ब्रह्म जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण है वह महान् भयरूप है । यह महान् भयरूप है अर्थात् इससे सब भय मानते हैं, इसलिये यह 'महद्भय' है । तथा उठाये हुए वज्रके समान है । कहना यह है कि जिस प्रकार अपने सामने स्वामीको हाथमें वज्र उठाये देखकर सेवक लोग नियमानुसार उसकी आज्ञामें प्रवृत्त होते रहते हैं उसी प्रकार चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदिरूप यह सारा जगत् अपने अधिष्ठाताओंके सहित एक क्षणको भी विश्राम न लेकर नियमानुसार उसकी आज्ञामें बर्तता है ।

भवति । य एतद्विदुः स्वात्मप्रवृत्तिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥ २ ॥

अपने अन्तःकरणकी प्रवृत्तिके साक्षीभूत इस एक ब्रह्मको जो लोग जानते हैं वे अमर—अमरणधर्मा हो जाते हैं ॥ २ ॥

कथं तद्भयाज्जगद्वर्तत इत्याह—

उसके भयसे जगत् किस प्रकार व्यापार कर रहा है ? सो कहते हैं—

सर्वशासक प्रभु

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

इस (परमेश्वर) के भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है तथा इसीके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है ॥ ३ ॥

भयाद्भीत्या परमेश्वरस्याग्निः तपति भयात्तपति सूर्यो भयात् इन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यतकरवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥ ३ ॥

इस परमेश्वरके भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तप रहा है तथा इसीके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है । यदि सामर्थ्यवान् और ईशनशील लोकपालोंका, हाथमें वज्र उठाये रखनेवाले [इन्द्र] के समान कोई नियन्ता न होता तो स्वामीके भयसे प्रवृत्त होनेवाले सेवकोंके समान उनकी नियमित प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी ॥ ३ ॥

ईश्वरज्ञानके बिना पुनर्जन्मप्राप्ति

तच्च— | और उस (भयके कारण-स्वरूप ब्रह्म) को—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

यदि इस देहमें इसके पतनसे पूर्व ही ब्रह्मको [जान सका तो बन्धनसे मुक्त हो जाता है और यदि] नहीं जान पाया तो इन जन्म-मरणशील लोकोमे वह शरीर-भावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ ४ ॥

इह जीवन्नेव चेद्यद्यशकत् शक्नोति शक्तः सञ्ज्ञानात्येतद्भय-कारणं ब्रह्म बोद्धुमवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽव-स्रंसनात्पतनात्संसारबन्धनाद्वि-मुच्यते । न चेदशकद्बोद्धुं ततः अनवबोधात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः । तस्माच्छरीर-विस्रंसनात्प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः ॥ ४ ॥

यदि इस देहमे अर्थात् जीवित रहते हुए ही शरीरका पतन होनेसे पूर्व साधक पुरुषने इन सूर्यादिके भयके हेतुभूत ब्रह्मको जान लिया तो वह संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है; और यदि उसे न जान सका तो उसका ज्ञान न होनेके कारण वह सर्गोंमे जिनमे स्रष्टव्य प्राणियोंकी रचना की जाती है। उन पृथिवी आदि लोकोंमें शरीरत्व—शरीरभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है अर्थात् शरीर ग्रहण कर लेता है। अतः शरीरपातसे पूर्व ही आत्मज्ञानके लिये यत्न करना चाहिये ॥ ४ ॥

यस्मादिहैवात्मनो दर्शनम् आदर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकाद् अन्यत्र, स च दुष्प्रापः, कथम्? इत्युच्यते—

क्योंकि जिस प्रकार दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है उसी प्रकार इस (मनुष्यदेह) में ही आत्माका स्पष्ट दर्शन होना सम्भव है, वैसा दर्शन ब्रह्मलोकको छोड़कर और किसी लोकमें नहीं होता और उसका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है; सो किस प्रकार? इसपर कहते हैं—

स्थानभेदसे भगवद्दर्शनमें तारतम्य

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

जिस प्रकार दर्पणमें उसी प्रकार निर्मल बुद्धिमें आत्माका [स्पष्ट] दर्शन होता है तथा जैसा स्वप्नमें वैसा ही पितृलोकमें और जैसा जलमें वैसा ही गन्धर्वलोकमें उसका [अस्पष्ट] भान होता है; किन्तु ब्रह्मलोकमें तो छाया और प्रकाशके समान वह [सर्वथा स्पष्ट] अनुभूत होता है ॥५॥

यथादर्शे प्रतिबिम्बभूतम् आत्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं तथेहात्मनि स्वबुद्धौ आदर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तम् आत्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः।

जिस प्रकार लोक दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुए अपने-आपको अत्यन्त स्पष्टतया देखता है उसी प्रकार दर्पणके समान निर्मल हुई अपनी बुद्धिमें आत्माका स्पष्ट दर्शन होता है—ऐसा इसका अभिप्राय है।

यथास्वप्नेऽविविक्तं जाग्रद्वासनोद्भूतं तथा पितृलोकेऽविविक्तम्

जिस प्रकार स्वप्नमें जाग्रद्वासनाओंसे प्रकट हुआ दर्शन अस्पष्ट होता है उसी प्रकार पितृलोकमें

एव दर्शनमात्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात् । यथा चाप्सु अविभक्तावयवमात्मरूपं परीव ददृशे परिदृश्यत इव तथा गन्धर्वलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः । एवं च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते । छायातपयोः इवात्यन्तविविक्तं ब्रह्मलोक एव एकस्मिन् । स च दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात् । तस्मादात्मदर्शनायेहैव यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

भी अस्पष्ट आत्मदर्शन होता है; क्योंकि वहाँ जीव कर्मफलके उपभोगमें आसक्त रहता है । तथा जिस प्रकार जलमें अपना स्वरूप ऐसा दिखलायी देता है, मानो उसके अवयव विभक्त न हों उसी प्रकार गन्धर्वलोकमें भी अस्पष्टरूपसे ही आत्माका दर्शन होता है । अन्य लोकोंमें भी शास्त्रप्रमाणसे ऐसा ही [अर्थात् अस्पष्ट आत्मदर्शन ही] माना जाता है । एकमात्र ब्रह्मलोकमें ही छाया और प्रकाशके समान वह आत्मदर्शन अत्यन्त स्पष्टतया होता है । किन्तु अत्यन्त विशिष्ट कर्म और ज्ञानसे साध्य होनेके कारण वह ब्रह्मलोक तो बड़ा दुष्प्राप्य है । अतः अभिप्राय यह है कि इस मनुष्यलोकमें ही आत्मदर्शनके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५ ॥

कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते—

उस आत्माको किस प्रकार जानना चाहिये और उसके जाननेमें क्या प्रयोजन है ? इसपर कहते हैं—

आत्मज्ञानका प्रकार और प्रयोजन

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

पृथक्-पृथक् भूतोसे उत्पन्न होनेवाली इन्द्रियोंके जो विभिन्न भाव तथा उनकी उत्पत्ति और प्रलय है उन्हें जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाशादिभ्यः पृथग् उत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात् केवलाच्चिन्मात्रात्मस्वरूपात्पृथग्भावं स्वभावविलक्षणात्मकतां तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ चोत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया नात्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान्न शोचति। आत्मनो नित्यैकस्वभावस्य अव्यभिचाराच्छोककारणत्वानुपपत्तेः। तथा च श्रुत्यन्तरम् "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७। १। ३) इति ॥ ६ ॥

अपने-अपने विषयको ग्रहण करनारूप प्रयोजनके कारण अपने कारणरूप आकाशादि भूतों-से पृथक्-पृथक् उत्पन्न होनेवाली श्रोत्रादि इन्द्रियोंका जो अत्यन्त विशुद्धस्वरूप केवल चिन्मात्र आत्मस्वरूपसे पृथक्त्व अर्थात् स्वाभाविक विलक्षणरूपता है उसे तथा जाग्रत् और स्वप्नकी अपेक्षासे उन इन्द्रियोंके उदयास्तमय—उत्पत्ति और प्रलयको जानकर अर्थात् विवेकपूर्वक यह समझकर कि ये इन्द्रियोंकी ही अवस्थाएँ हैं, आत्माकी नहीं, धीर—बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता; क्योंकि सर्वदा एक स्वभावमें रहनेवाले आत्माका कभी व्यभिचार न होनेके कारण शोकका कोई कारण नहीं ठहरता। जैसा कि "आत्मज्ञानी शोकको पार कर जाता है" ऐसी एक श्रुति भी है ॥ ६ ॥

यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधि-

जिस आत्मासे इन्द्रियोंका पृथक्त्व दिखलाया गया है वह कहीं बाहर है—ऐसा नहीं समझना

गन्तव्यो यस्मात्प्रत्यगात्मा स सर्वस्य । तत्कथमित्युच्यते—

चाहिये; क्योंकि वह समीका अन्तरात्मा है। सो किस प्रकार? इसपर कहते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियोंसे मन पर (उत्कृष्ट) है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे महत्तत्त्व बढ़कर है तथा महत्तत्त्वसे अव्यक्त उत्तम है ॥ ७ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि । अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम् । पूर्ववदन्यत् । सत्त्वशब्दाद्बुद्धिरिहोच्यते ॥ ७ ॥

इन्द्रियोंसे मन पर है [तथा मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है] इत्यादि । इन्द्रियोंके सजातीय होनेसे इन्द्रियोंका ग्रहण करनेसे ही विषयोंका भी ग्रहण हो जाता है । अन्य सब पूर्ववत् (कठ० १ । ३ । १० के समान) समझना चाहिये । 'सत्त्व' शब्दसे यहाँ बुद्धि कही गयी है ॥७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अव्यक्तसे भी पुरुष श्रेष्ठ है और वह व्यापक तथा अलिङ्ग है; जिसे जानकर मनुष्य मुक्त होता है और अमरत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कारणत्वात् । अलिङ्गो

अव्यक्तसे भी पुरुष श्रेष्ठ है । वह आकाशादि सम्पूर्ण व्यापक पदार्थोंका भी कारण होनेसे व्यापक है । और अलिङ्ग है—जिसके द्वारा

लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं बुद्ध्यादि तदविद्यमानमस्येति सोऽयमलिङ्ग एव । सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत् । यं ज्ञात्वा आचार्यतःशास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुः अविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च गच्छति सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात् पुरुष इति पूर्वेणैव सम्बन्धः॥८॥

कोई वस्तु जानी जाती है वह बुद्धि आदि लिङ्ग कहलाते हैं; परन्तु पुरुषमें इनका अभाव है इसलिये यह अलिङ्ग अर्थात् सम्पूर्ण संसार-धर्मोंसे रहित है । जिसे आचार्य और शास्त्रद्वारा जानकर पुरुष जीवित रहते हुए ही अविद्या आदि हृदयकी ग्रन्थियोंसे मुक्त हो जाता है तथा शरीरका पतन होनेपर भी अमरत्वको प्राप्त होता है वह पुरुष अलिङ्ग है, और अव्यक्तसे भी पर है—इस प्रकार इसका पूर्ववाक्यसे ही सम्बन्ध है ॥ ८ ॥

कथं तर्ह्यलिङ्गस्य दर्शनम् उपपद्यत इत्युच्यते—

तो फिर जिसका कोई लिङ्ग (ज्ञापक चिह्न) नहीं है उस आत्माका दर्शन होना किस प्रकार सम्भव है ? सो कहा जाता है—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

इस आत्माका रूप दृष्टिमें नहीं ठहरता । इसे नेत्रसे कोई भी नहीं देख सकता । यह आत्मा तो मनका नियमन करनेवाली हृदयस्थिता बुद्धिद्वारा मननरूप सम्यग्दर्शनसे प्रकाशित [हुआ ही जाना जा सकता] है । जो इसे [ब्रह्मरूपसे] जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ ९ ॥

न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम्। अतो न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण, चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात्, पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिद् अप्येनं प्रकृतमात्मानम्।

इस प्रत्यगात्माका रूप संदर्शन—दृष्टिके विषयमें स्थिर नहीं होता। अतः कोई भी पुरुष इस प्रकृत आत्माको चक्षुसे—सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे [अर्थात् समस्त इन्द्रियोंमेंसे किसीसे] भी नहीं देख सकता अर्थात् उपलब्ध नहीं कर सकता। यहाँ चक्षुका ग्रहण सम्पूर्ण इन्द्रियोंका उपलक्षण करानेके लिये है।

कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते। हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या। मनीषा मनसः सङ्कल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट् तया हृदा मनीषाविकल्पयित्र्या मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन अभिक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत्। आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः। तम् आत्मानं ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

तो फिर उसे किस प्रकार देखें? इसपर कहते हैं—हृदयस्थिता बुद्धिसे, जो कि सङ्कल्पादिरूप मनकी नियन्त्री होकर ईशन करनेके कारण 'मनीट्' है उस विकल्पशून्या बुद्धिसे मन अर्थात् मननरूप यथार्थ दर्शनद्वारा सब प्रकार समर्थित अर्थात् प्रकाशित हुआ वह आत्मा जाना जा सकता है। यहाँ 'आत्मा जाना जा सकता है' यह वाक्यशेष है। उस आत्माको जो लोग 'यह ब्रह्म है' ऐसा जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ ९ ॥

सा हृन्मनीट् कथं प्राप्यत इति तदर्थो योग उच्यते—

वह हृदयस्थित [सङ्कल्पशून्य] बुद्धि किस प्रकार प्राप्त होती है? यह बतलानेके लिये योगसाधनका उपदेश किया जाता है—

परमपदप्राप्ति

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मनके सहित [आत्मामें] स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्थाको परमगति कहते हैं ॥ १० ॥

यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्यो निवर्तितान्यात्मन्येव पञ्च ज्ञानानि—ज्ञानार्थत्वाच्छ्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते—अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि तेन संकल्पादिव्यावृत्तेनान्तःकरणेन; बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

जिस समय अपने-अपने विषयोंसे निवृत्त हुई पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ—ज्ञानार्थक होनेके कारण श्रोत्रादि इन्द्रियाँ 'ज्ञान' कही जाती हैं—मनके साथ अर्थात् वे जिसका अनुवर्तन करनेवाली हैं उस सङ्कल्पादि व्यापारसे निवृत्त हुए अन्तःकरणके सहित [आत्मामें] स्थिर हो जाती हैं और निश्चयात्मिका बुद्धि भी अपने व्यापारोंमें चेष्टाशील नहीं होती—चेष्टा नहीं करती—व्यापार नहीं करती उस अवस्थाको ही परमगति कहते हैं ॥१०॥



तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

उस स्थिर इन्द्रियधारणाको ही योग कहते हैं । उस समय पुरुष प्रमादरहित हो जाता है; क्योंकि योग ही उत्पत्ति और नाशरूप है ॥ ११ ॥

तामीदृशीं तदवस्थां योगम् इति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम् । सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः । एतस्यां ह्यवस्थायामविद्याध्यारोपणवर्जितस्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा । स्थिराम् इन्द्रियधारणां स्थिरामचलाम् इन्द्रियधारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणमित्यर्थः ।

उस ऐसी अवस्थाको ही—जो वास्तवमें वियोग ही है—योग मानते हैं; क्योंकि योगीकी यह अवस्था सब प्रकारके अनर्थसंयोगकी वियोगरूपा है । इस अवस्थामें ही आत्मा अपने अविद्यादि आरोपसे रहित स्वरूपमें स्थित रहता है । [उस अवस्थाको ही] स्थिर इन्द्रियधारणा कहते हैं—स्थिर अर्थात् अचल इन्द्रियधारणा यानी बाह्य और आन्तरिक करणोंका धारण करना ।

अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति सामर्थ्यादवगम्यते । न हि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसंभवोऽस्ति । तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमादप्रमादो विधीयते । अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा तदानीमेव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वमित्यतः अभि-

तब उस समय साधक पुरुष अप्रमत्त—प्रमादरहित हो जाता है अर्थात् चित्तसमाधानके प्रति सर्वदा सयत्न रहता है; जिस समय कि वह योगमें प्रवृत्त होता है [उस समय ऐसी स्थिति होती है]—ऐसा इस वाक्यके सामर्थ्यसे जाना जाता है; क्योंकि बुद्धि आदिकी चेष्टाका अभाव हो जानेपर प्रमाद होना सम्भव नहीं है । अतः बुद्धि आदिकी चेष्टाका अभाव होनेसे पूर्व ही अप्रमादका विधान किया जाता है । अथवा जिसी समय इन्द्रियोंकी धारणा स्थिर होती है उसी समय निरङ्कुश अप्रमत्तत्व होता

धीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति। कुतः? योगो हि यस्मात् प्रभवाप्ययौ उपजनापायधर्मक इत्यर्थोऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः॥ ११॥

है; इसीलिये 'उस समय अप्रमत्त हो जाता है' ऐसा कहा है। ऐसी बात क्यों है? क्योंकि योग ही प्रभव और अप्यय यानी उत्पत्ति और लयरूप धर्मवाला है; अतः तात्पर्य यह है कि अपाय (लय) की निवृत्तिके लिये प्रमादका अभाव करना चाहिये॥ ११॥

बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद् ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावात् अनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म। यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके विपरीतं चासद् इत्यतश्चानर्थको योगः अनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते—

सत्यम्,

यदि ब्रह्म बुद्धि आदिकी चेष्टाका विषय होता तो 'यह वह [ब्रह्म] है, इस प्रकार विशेषरूपसे गृहीत किया जा सकता था; किन्तु बुद्धि आदिके निवृत्त हो जानेपर तो उसे गृहीत करनेके कारणका अभाव हो जानेसे उपलब्ध न होनेवाला वह ब्रह्म वस्तुतः है ही नहीं। लोकमें जो वस्तु इन्द्रियगोचर होती है वही 'है' इस प्रकार प्रसिद्ध होती है और इसके विपरीत [इन्द्रियगोचर न होनेवाली] वस्तु 'असत्' कही जाती है, अतः योग व्यर्थ है। अथवा उपलब्ध होनेवाला न होनेसे ब्रह्म 'नहीं है' इस प्रकार जानना चाहिये—ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है—ठीक है—

आत्मोपलब्धिका साधन सद्बुद्धि ही है

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥

वह आत्मा न तो वाणीसे, न मनसे और न नेत्रसे ही प्राप्त किया जा सकता है; वह 'है' ऐसा कहनेवालोंसे अन्यत्र (भिन्न पुरुषोंको) किस प्रकार उपलब्ध हो सकता है ? ॥ १२ ॥

नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्यर्थः । तथापि सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलम् इत्यवगतत्वादस्त्येव कार्यप्रविलापनस्य अस्तित्वनिष्ठत्वात् । तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति । यदापि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदापि सा सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते । बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे ।

तात्पर्य यह कि वह ब्रह्म न तो वाणीसे, न मनसे, न नेत्रसे और न अन्य इन्द्रियोंसे ही प्राप्त किया जा सकता है । तथापि सर्वविशेषरहित होनेपर भी 'वह जगत्का मूल है' इस प्रकार ज्ञात होनेके कारण वह है ही, क्योंकि - कार्यका विलय किसी अस्तित्वके आश्रयसे ही हो सकता है । इसी प्रकार सूक्ष्मताकी तारतम्यपरम्परासे अनुगत होनेवाला यह सम्पूर्ण कार्यवर्ग भी सद्बुद्धिनिष्ठाको ही सूचित करता है । जिस समय विषयका विलय करते हुए बुद्धिका विलय किया जाता है उस समय भी वह सद्वृत्तिगर्भिता हुई ही लीन होती है । तथा सत् और असत्का यथार्थ स्वरूप जाननेमें तो हमारे लिये बुद्धि ही प्रमाण है ।

मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमसदित्येवं गृह्येत न त्वेतदस्ति सत्सदित्येव तु गृह्यते; यथा मृदादिकार्यं घटादि मृदाद्यन्वितम् । तस्माज्जगतो मूलमात्मास्तीत्येवोपलब्धव्यम् । कस्मात् ? अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधानादन्यत्र नास्तिकवादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यमभावान्तं प्रविलीयत इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद्ब्रह्म तत्त्वत उपलभ्यते न कथञ्चनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

यदि जगत्‌का कोई मूल न होता तो यह सम्पूर्ण कार्यवर्ग असन्मय ही होनेके कारण 'असत् है' इस प्रकार गृहीत होता । किन्तु ऐसी बात नहीं है; यह जगत् तो 'है—है' इस प्रकार ही गृहीत होता है, जिस प्रकार कि मृत्तिका आदिके कार्य घट आदि [अपने कारण] मृत्तिका आदिसे समन्वित ही गृहीत होते हैं । अतः जगत्‌का मूल आत्मा 'है' इस प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिये । क्यों ? क्योंकि आत्मा 'है' इस प्रकार कहनेवाले शास्त्रार्थानुसारी श्रद्धालु आस्तिक पुरुषोंसे भिन्न नास्तिकवादियोंको, जो ऐसा मानते हैं कि 'जगत्‌का मूल आत्मा नहीं है, जिसका अभाव ही अन्तिम परिणाम है ऐसा यह कार्यवर्ग कारणसे अनन्वित हुआ ही लीन हो जाता है'—ऐसे उन विपरीतदर्शियोंको वह ब्रह्म किस प्रकार तत्त्वतः उपलब्ध हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षम् आसुरम्—

अतः असद्वादियोंके आसुरी पक्षका निराकरण कर—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

वह आत्मा 'है' इस प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिये तथा उसे तत्त्वभावसे भी जानना चाहिये । इन दोनों प्रकारकी उपलब्धियोंमेंसे जिसे 'है' इस प्रकारकी उपलब्धि हो गयी है तत्त्वभाव उसके अभिमुख हो जाता है ॥ १३ ॥

अस्तीत्येवात्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो बुद्ध्याद्युपाधिः । यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय आत्मा कार्यं च कारणव्यतिरेकेण नास्ति "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति श्रुतेस्तदा यस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्यात्मनः तत्त्वभावो भवति तेन च रूपेण आत्मोपलब्धव्य इत्यनुवर्तते ।

बुद्धि आदि जिसकी उपाधि हैं तथा जिसका सत्त्व उसके कार्य-वर्गमें अनुगत है उस आत्माको 'है' इस प्रकार ही उपलब्ध करना चाहिये । जिस समय आत्मा उस बुद्धि आदि उपाधिसे रहित और निर्विकार जाना जाता है तथा कार्यवर्ग "विकार वाणीका विलास और नाममात्र है, केवल मृत्तिका ही सत्य है" इस श्रुतिके अनुसार अपने कारणसे भिन्न नहीं है—ऐसा निश्चित होता है उस समय जिस निरुपाधिक अलिङ्ग और सत्-असत् आदि प्रतीतिके विषयत्वसे रहित आत्मा-का तत्त्वभाव होता है उस तत्त्व-स्वरूपसे ही आत्माको उपलब्ध करना चाहिये—इस प्रकार यहाँ 'उपलब्धव्य' पदकी अनुवृत्ति की जाती है ।

तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभावयोः—

सोपाधिक अस्तित्व और निरुपाधिक तत्त्वभाव इन दोनोंमेंसे—

निर्धारणार्था षष्ठी—पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्यात्मनः सत्कार्योपाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्य इत्यर्थः पश्चात्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वभावः "नेति नेति" (बृ० उ० २ । ३ । ६, ३ । ९ । २६) इति "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" (बृ० उ० ३ । ८ । ८) "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने" (तै० उ० २ । ७ । १) इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः प्रसीदत्यभिमुखीभवति आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत इत्येतत् ॥ १३ ॥

यहाँ 'उभयोः' इस पदमें षष्ठी निर्धारणके लिये है—पहले तो 'है' इस प्रकार उपलब्ध हुए आत्माका अर्थात् सत्कार्यरूप उपाधिके किये हुए अस्तित्व-प्रत्ययसे उपलब्ध हुए आत्माका और फिर जिसकी सम्पूर्ण उपाधि निवृत्त हो गयी है और जो ज्ञात एवं अज्ञातसे भिन्न अद्वितीयस्वरूप है, उस "नेति-नेति[1]" "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्[2]" "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने[3]" इत्यादि श्रुतियोंसे निर्दिष्ट आत्माका तत्त्वभाव 'प्रसीदति'—अभिमुख होता है अर्थात् जिसे पहले 'है' इस प्रकार आत्माकी उपलब्धि हो गयी है उसे अपना स्वरूप प्रकट करनेके लिये [वह तत्त्वभाव अभिमुख प्रकाशित होता है] ॥ १३ ॥

अमर कब होता है ?

एवं परमार्थदर्शिनोः— | इस प्रकार परमार्थदर्शीकी—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

---

१. 'यह (स्थूल) नहीं है, यह (सूक्ष्म) नहीं है ।'

२. 'अस्थूल, असूक्ष्म, अह्रस्व ।'

३. 'अदृश्य (इन्द्रियोंके अविषय)में, अनात्म्य (अहंता-ममताहीन) मे, अनिर्वचनीयमें, अनिलयन (आधाररहित) में ।'

जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ, जो कि इसके हृदयमें आश्रय करके रहती हैं, छूट जाती हैं उस समय वह मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है और इस शरीरसे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

कामत्यागेन अमृतत्वम्

यदा यस्मिन्काले सर्वे कामाः कामयितव्यस्यान्यस्याभावात्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते येऽस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः बुद्धिर्हि कामानामाश्रयो नात्मा। "कामः संकल्पः" (बृ० उ० १। ५। ३) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च।

अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधात् आसीत्स प्रबोधोत्तरकालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति। गमनप्रयोजकस्य मृत्योर्विनाशाद्गमनानुपपत्तेरत्रेहैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

जब—जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ कामनायोग्य अन्य पदार्थका अभाव होनेके कारण छूट जाती हैं—छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, जो कि बोध होनेसे पूर्व इस विद्वान्के हृदय—बुद्धिमें आश्रित रहती हैं—क्योंकि बुद्धि ही कामनाओंका आश्रय है, आत्मा नहीं; जैसा कि "कामना, संकल्प [और संशय—ये सब मन ही हैं]" इत्यादि एक दूसरी श्रुतिसे भी सिद्ध होता है।

तब फिर जो आत्मसाक्षात्कारसे पूर्व मरणधर्मा था वह जीव आत्मज्ञान होनेके अनन्तर अविद्या, कामना और कर्मरूप मृत्युका नाश हो जानेसे अमर हो जाता है। परलोकमें गमन करानेवाले मृत्युका विनाश हो जानेसे वहाँ जाना सम्भव न होनेके कारण वह इस लोकमें ही दीपनिर्वाणके समान सम्पूर्ण बन्धनोंके नष्ट हो जानेसे ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है ॥ १४ ॥

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते—

परन्तु कामनाओंका समूल नाश कब होता है? इसपर कहते हैं—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥

जिस समय इस जीवनमे ही इसके हृदयकी सम्पूर्ण ग्रन्थियोंका छेदन हो जाता है उस समय यह मरणधर्मा अमर हो जाता है । बस, सम्पूर्ण वेदान्तोंका इतना ही आदेश है ॥ १५ ॥

ग्रन्थिभेद एवामृतत्वम्

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदम् उपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद् दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः । अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहम् इत्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद् ब्रह्मैवाहमस्मि असंसारीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदेवैतावन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशङ्का कर्तव्या ।

जिस समय यह—जीवित रहते हुए ही इसके हृदयकी—बुद्धिकी सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ अर्थात् दृढ बन्धनरूप अविद्याजनित प्रतीतियाँ छिन्न-भिन्न होती—भेदको प्राप्त होती अर्थात् नष्ट हो जाती हैं—'मै यह शरीर हूँ, यह मेरा धन है, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि प्रकारके अनुभव अविद्या-प्रत्यय हैं; उसके विपरीत ब्रह्मात्मभावके अनुभवकी उत्पत्तिसे 'मैं असंसारी ब्रह्म ही हूँ' ऐसे बोधद्वारा अविद्यारूप ग्रन्थियोंके नष्ट हो जानेपर उसके निमित्तसे हुई कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह मर्त्य (मरणधर्मा जीव) अमर हो जाता है । बस, इतना ही सम्पूर्ण वेदान्तोका अनुशासन—आदेश है; इससे अधिक कुछ और

अनुशासनमनुशिष्टिरुपदेशः सर्व-वेदान्तानामिति वाक्यशेषः ।१५।

है ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये । यहाँ 'सर्ववेदान्तानाम्' यह वाक्यशेष है ॥ १५ ॥

निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यत इत्युक्तमत्र ब्रह्म समश्नुत इत्युक्तत्वात् । "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (बृ० उ० ४ । ४ । ६) इति श्रुत्यन्तराच्च ।

जिसमें सम्पूर्ण विशेषणोंका अभाव है उस सर्वव्यापक ब्रह्मको ही अपने आत्मस्वरूपसे जान लेनेके कारण जिसकी अविद्या आदि समस्त ग्रन्थियाँ टूट गयी हैं और जो जीवितावस्थामें ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया है उस विद्वान्‌का कहीं गमन नहीं होता—ऐसा पहले कहा गया, क्योंकि [चौदहवें मन्त्रमें] 'इस शरीरमें ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है'—ऐसा कहा है। "उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वह ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है" इस एक दूसरी श्रुतिसे भी यही निश्चय होता है ।

ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो ये च तद्विपरीताः संसारभाजः तेषामेव गतिविशेष उच्यते—प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्याफलस्तुतये ।

किन्तु जो मन्द ब्रह्मज्ञानी और अन्य विद्या (उपासना) का परिशीलन करनेवाले ब्रह्मलोकप्राप्तिके अधिकारी हैं अथवा जो उनसे विपरीत [जन्म-मरणरूप] संसारको ही प्राप्त होनेवाले हैं, उन्हींकी किसी गतिविशेषका वर्णन यहाँ प्रकरणप्राप्त ब्रह्मविद्याके उत्कृष्ट फलकी स्तुतिके लिये किया जाता है ।

किं चान्यदग्निविद्या पृष्टा प्रयुक्ता च। तस्याश्च फलप्राप्ति-प्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः। तत्र—

इसके सिवा नचिकेताके पूछने-पर यमराजने पहले अग्निविद्याका भी वर्णन किया था, उस अग्नि-विद्याके फलकी प्राप्तिका प्रकार भी बतलाना है ही। इसी अभिप्रायसे इस मन्त्रका आरम्भ किया जाता है। वहाँ [कहना यह है कि—]

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

इस हृदयकी एक सौ एक नाडियाँ हैं; उनमेंसे एक मूर्धाका भेदन करके बाहरको निकली हुई है। उसके द्वारा ऊर्ध्व—ऊपरकी ओर गमन करनेवाला पुरुष अमरत्वको प्राप्त होता है। शेष विभिन्न गतियुक्त नाडियाँ उत्क्रमण (प्राणोत्सर्ग) की हेतु होती हैं ॥ १६ ॥

सुषुम्नाभेदेन अमृतत्वम्

शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयाद्विनिःसृता नाड्यः शिरास्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वाभिनिःसृता निर्गता सुषुम्ना नाम। तयान्त-काले हृदय आत्मानं वशीकृत्य योजयेत्।

पुरुषके हृदयसे सौ अन्य और सुषुम्ना नामकी एक—इस प्रकार [एक सौ एक] नाडियाँ—शिराएँ निकली हैं। उनमें सुषुम्नानाम्नी नाडी मस्तकका भेदन करके बाहर निकल गयी है। अन्तकालमें उसके द्वारा आत्माको अपने हृदयदेशमें वशीभूत करके समाहित करे।

तया नाड्योर्ध्वमुपर्यायन् गच्छन्नादित्यद्वारेणामृतत्वममरण-

उस नाडीके द्वारा ऊर्ध्व—ऊपर-की ओर जानेवाला जीव सूर्यमार्गसे अमृतत्व-आपेक्षिक अमरणधर्मत्व-

धर्मत्वमापेक्षिकम् । "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" (वि० पु० २ । ८ । ९७) इति स्मृतेः । ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्मलोकगतान् । विष्वङ्नानाविधगतयः अन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसारप्रतिपत्त्यर्था एव भवन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

को प्राप्त हो जाता है, जैसा कि "सम्पूर्ण भूतोंके क्षयपर्यन्त रहनेवाला स्थान अमृतत्व कहलाता है" इस स्मृतिसे प्रमाणित होता है। अथवा [यह भी तात्पर्य हो सकता है कि] कालान्तरमें ब्रह्माके साथ ब्रह्मलोकके अनुपम भोगोंको भोगकर मुख्य अमृतत्वको प्राप्त करता है। इसके सिवा जिनकी गति विविध भाँतिकी हैं ऐसी अन्य सब नाड़ियाँ प्राणप्रयाणकी हेतु होती हैं, अर्थात् वे संसारप्राप्तिके लिये ही होती हैं ॥ १६ ॥

इदानीं सर्ववल्ल्यर्थोपसंहारार्थमाह—

अब सम्पूर्ण वल्लियोंके अर्थका उपसंहार करनेके लिये कहते हैं—

उपसंहार

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, जो अन्तरात्मा है सर्वदा जीवोंके हृदयदेशमें स्थित है। मूँजसे सींकके समान उसे धैर्यपूर्वक अपने शरीरसे बाहर निकाले [अर्थात् शरीरसे पृथक् करके अनुभव करे] । उसे शुक्र (शुद्ध) और अमृतरूप समझे, उसे शुक्र और अमृतरूप समझे ॥१७॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां सम्बन्धिनि हृदये संनिविष्टो यथाव्याख्यातः तं स्वादात्मीयाच्छरीरात्प्रवृहेत् उद्यच्छेन्निष्कर्षेत्पृथक्कुर्यादित्यर्थः। किमिवेत्युच्यते मुञ्जादिव इषीकामन्तःस्थां धैर्येणाप्रमादेन। तं शरीरान्निष्कृष्टं चिन्मात्रं विद्याद्विजानीयाच्छुक्रममृतं यथोक्तं ब्रह्मेति। द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थमितिशब्दश्च ॥ १७ ॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, जिसकी व्याख्या पहले (क० उ० २ । १ । १२-१३ में) की जा चुकी है और जो जीवोंके हृदयमें स्थित उनका अन्तरात्मा है उसे अपने शरीरसे बाहर करे—ऊपर नियन्त्रित करे—निकाले अर्थात् शरीरसे पृथक् करे। किस प्रकार पृथक् करे? इसपर कहते हैं—धैर्य अर्थात् अप्रमादपूर्वक इस प्रकार अलग करे जैसे मूँजसे उसके भीतर रहनेवाली सींक की जाती है। शरीरसे पृथक् किये हुए उस (अङ्गुष्ठमात्र पुरुष) को ही पूर्वोक्त चिन्मात्र विशुद्ध और अमृतमय ब्रह्म जाने। यहाँ 'तं विद्याच्छुक्रममृतम्' इस पदकी द्विरुक्ति और 'इति' शब्द उपनिषद्की समाप्तिके लिये हैं ॥ १७ ॥

विद्यास्तुत्यर्थोऽयमाख्यायिकार्थोपसंहारोऽधुनोच्यते—

अब विद्याकी स्तुतिके लिये यह आख्यायिकाके अर्थका उपसंहार कहा जाता है—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥

मृत्युकी कही हुई इस विद्या और सम्पूर्ण योगविधिको पाकर नचिकेता ब्रह्मभावको प्राप्त, विरज (धर्माधर्मशून्य) और मृत्युहीन हो गया। दूसरा भी जो कोई अध्यात्मतत्त्वको इस प्रकार जानेगा वह भी वैसा ही हो जायगा ॥ १८ ॥

मृत्युप्रोक्तां यथोक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं सोपकरणं सफलमित्येतत्; नचिकेता वरप्रदानात् मृत्योर्लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः, किम्? ब्रह्मप्राप्तोऽभून्मुक्तोऽभवदित्यर्थः। कथम्? विद्याप्राप्त्या विरजो विगतधर्माधर्मो विमृत्युर्विगतकामाविद्यश्च सन्पूर्वमित्यर्थः।

मृत्युकी कही हुई इस पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या और कृत्स्न—सम्पूर्ण योगविधिको, उसके साधन और फलके सहित, वरप्रदानके कारण मृत्युसे प्राप्त कर नचिकेता, क्या हो गया? [इसपर कहते हैं—] ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया, अर्थात् मुक्त हो गया। सो किस प्रकार? [इसपर कहते हैं—] विद्याकी प्राप्तिद्वारा पहले विरज—धर्माधर्मसे रहित और विमृत्यु—काम और अविद्यासे रहित होकर [मुक्त हो गया] ऐसा इसका तात्पर्य है।

न केवलं नचिकेता एव अन्योऽपि नचिकेतोवदात्मविद् अध्यात्ममेव निरुपचरितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तत्त्वमेवेत्यभिप्रायः; नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम्। तदेवमध्यात्ममेवमुक्तप्रकारेण वेद विजानातीत्येवंवित्सोऽपि विरजः

केवल नचिकेता ही नहीं, बल्कि नचिकेताके समान जो दूसरा भी आत्मज्ञानी है अर्थात् जो अपने देहादिके अधिष्ठाता उपचारशून्य प्रत्यक्स्वरूपको—यही तत्त्व है, अन्य अप्रत्यक्रूप नहीं—ऐसा जानता है, जो उक्त प्रकारसे अपने उसी अध्यात्मरूपको जानता है अर्थात् जो उसी प्रकार जाननेवाला है वह भी विरज (धर्माधर्मसे

सन्ब्रह्मप्राप्त्या विमृत्युर्भवतीति वाक्यशेषः ॥ १८ ॥

रहित) होकर ब्रह्मप्राप्तिद्वारा मृत्युहीन हो जाता है—यह वाक्यशेष है ॥ १८ ॥

शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रतिपादननिमित्तदोषप्रशमनार्थेयं शान्तिः उच्यते—

अब शिष्य और आचार्यके प्रमादकृत अन्यायसे विद्याके ग्रहण और प्रतिपादनमें होनेवाले दोषोंकी निवृत्तिके लिये यह शान्ति कही जाती है—

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ १९ ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

परमात्मा हम [आचार्य और शिष्य] दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करे । हमारा साथ-साथ पालन करे । हम साथ-साथ विद्यासम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें । हमारा अध्ययन किया हुआ तेजस्वी हो । हम द्वेष न करें ॥ १९ ॥

सह नावावामवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन । कः ? स एव परमेश्वर उपनिषत्प्रकाशितः । किं च सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाशनेन नौ पालयतु । सहैवावां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै निष्पादयावहै । किं

विद्याके स्वरूपका प्रकाशन कर हम दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करे । कौन [रक्षा करे ? इसपर कहते हैं—] वह उपनिषत्प्रकाशित परमेश्वर ही [हमारी रक्षा करे] । तथा उसके फलको प्रकाशित कर वह हम दोनोंका साथ-साथ पालन करे । हम अपने विद्याकृत वीर्य-सामर्थ्यको साथ-साथ ही सम्पादित करें—प्राप्त करें । और

च तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयोर्यदधीतं तत्स्वधीतमस्तु । अथवा तेजस्वि नाववाभ्यां यदधीतं तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्तु इत्यर्थः । मा विद्विषावहै शिष्याचार्यावन्योन्यं प्रमादकृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तं द्वेषं मा करवावहै इत्यर्थः । शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थमित्योमिति१९

हम तेजस्वियोंका जो अध्ययन किया हुआ है वह सुपठित हो । अथवा तेजस्वी हो अर्थात् हमलोगोंका जो अध्ययन किया हुआ है वह अत्यन्त तेजस्वी यानी वीर्यवान् हो । हम शिष्य और आचार्य परस्पर विद्वेष न करें अर्थात् हम प्रमादकृत अन्यायसे अध्ययन और अध्यापनमें हुए दोषोंके कारण परस्पर एक दूसरेसे द्वेष न करें । 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' इस प्रकार 'शान्तिः' शब्दका तीन बार उच्चारण [आध्यात्मिकादि] सम्पूर्ण दोषोंकी शान्तिके लिये किया गया है । इत्योम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये
द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥३॥ (६)

इति कठोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥



श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका